श्रीश्रीकृष्णचैतन्य

महाप्रभु के श्रीमुख-निःसृत

# श्रीश्रीशिक्षाष्टकम्

"प्रभुर शिक्षाष्टकश्लोक येइ पड़े शुने ।
कृष्णप्रेमभक्ति तार बाड़े दिने दिने ।।"
( चै० च० )

श्रीमत् अनन्तदास बाबाजी महाराज

श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के श्रीमुख निःसृत

# श्रीश्रीशिक्षाष्टकम्

श्रीश्रीराधाकुण्डाश्रयी :

पं० श्रीमत् अनन्तदास बाबाजी महाराज

कर्तृक व्याख्यात

— हिन्दी अनुवादक —

महिमा चन्द्र पाठक

पहिला संस्करण—५००

सन् १९९५ ई०

श्रीश्रीकृष्णजन्माष्टमी



प्रचारानुकूल्य भिक्षा २०.००

बीस रुपया मात्र

# प्रकाशक का निवेदन

श्रीश्रीशिक्षाष्टक आध्यात्म क्षेत्र में श्रीश्रीचैतन्यदेव का एक अनर्घ अवदान है। महाप्रभु ने शिक्षाष्टक के इन आठ श्लोकों में निखल वेदादि शास्त्रों में निरूपित साध्य-साधन तत्त्व के अत्यन्त सारात्सार रहस्य को प्रकाशित किया है। श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तन ही कलिकाल का युगधर्म है। नाम और नामी (श्रीभगवान्) अभिन्नतत्त्व होने के कारण श्रीहरिनाम साध्य के साथ-साथ साधन भी है। इसलिये नामी श्रीकृष्ण का अखण्ड आस्वाद्य धर्म नाम में निहित रहता है। मानव की अपराध-दुष्ट जिह्वा उसका कोई आस्वादन नहीं पाती है। अपराधादि कलुष को नाश करने का उपाय भी एकमात्र श्रीनाम कीर्त्तन ही है। श्रीमद्रूप गोस्वामिपाद ने अपने उपदेशामृत में लिखा है—

"स्यात् कृष्णनामचरितादि-सिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिकानु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा,
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गदमूलहन्त्री॥"

अर्थात् मिश्री स्वाभाविक रूप से मीठी होते हुए भी पित्तदुष्ट जिह्वा में वह कड़वी लगती है। परन्तु मिश्री सेवन करते-करते पित्तदोष दूर होने पर उस का वास्तविक स्वाद अनुभव होने लगता है। उसी प्रकार अपराधदुष्ट जिह्वा पर अनन्तमधुर श्रीकृष्ण नाम-चरित आदि की स्वाभाविक स्वादुता का अनुभव नहीं होता है। आदर और प्रीति के साथ इस नाम चरितादि के निरन्तर सेवन अर्थात् श्रवण कीर्त्तन आदि करने से अपराधादि नष्ट होकर धीरे-धीरे उसकी वास्तविक का अनुभव होने लगता है।

श्रीमन्महाप्रभु ने आदर और प्रीति के साथ नाम कीर्तन का अत्यन्त सहज और सरल उपाय शिक्षाष्टक में व्यक्त किया है। भक्त की भक्ति साधना की प्राणवस्तु दैन्य, शुद्धाभक्ति, नाम-प्रेम, गोपी-प्रेम और राधा-प्रेम की निगूढ़ रहस्यावलि अत्यन्त संक्षिप्त रूप से इसमें अभिव्यक्त हुई है। एक अथाह समुद्र का जल जैसे एक घड़े में भरकर रख दिया गया है।

मैंने अपने परम पूज्यनीय श्रील गुरु महाराज जी के श्रीमुख से शिक्षाष्टक की इस विस्तृत-व्याख्या को पाठ के रूप में सुना था। उनका वह कथामृत ही उसी रूप में इस पुस्तिका में प्रकाशित हुआ है।

भक्तवृन्दों द्वारा इसकी रसमाधुरी का आस्वादन करने से मैं अपने को धन्य समझूँगा।

श्रीवैष्णव दासानुदास
हरेकृष्णदास
व्याकरण-भक्तितीर्थ

# सूची-पत्र



卐 卐

चेतोदर्पणमार्ज्जनं भवमहादावाग्नि-निर्वापणं,
श्रेयः कैरवचन्द्रिका वितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिबर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं,
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण-संकीर्त्तनम् ॥१॥

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि-
दुर्दैव मीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥२॥

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ॥३॥

न धनं न जनं न सुन्दरी कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥४॥

अयि नन्दतनुज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थित धूलीसदृशं विचिन्तय ॥५॥

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नाम ग्रहणे भविष्यति ॥६॥

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द-विरहेण मे ॥७॥

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु,
मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो,
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥८॥

••

॥ श्रीश्रीगौरविधुर्जयति ॥

# श्रीश्रीशिक्षाष्टकम्

**चेतोदर्पणमार्ज्जनं भवमहादावाग्नि-निर्वापणं,**
**श्रेयःकैरव-चन्द्रिकावितरणं विद्याबधूजीवनम् ।**
**आनन्दाम्बुधिबर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं,**
**सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम् ॥१॥**

कलिपावनावतार श्रीश्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के अवतार का एक अन्यतम (विशेष) कारण विश्व के मानव को बृजप्रेम का दान करके कृतार्थ करना था। "निज गूढ़ कार्य तोमार प्रेम आस्वादन। आनुषङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन।।" (चै० च०) इन दोनों कार्यों में ही वे प्रकटलीला काल में व्यस्त रहे। नदीया में संकीर्त्तन का प्रचार करके यत्र-तत्र नाम-प्रेम का दान किया और निज पार्षदों को आदेश किया कि "जाहा ताहा प्रेमफल देह जारे तारे।" (चै० च०)। सन्यास ग्रहण के उपरान्त दक्षिण भ्रमण में और वृज आने पर भारतवर्ष में सर्वत्र प्रेम प्रदान किया। यहाँ तक कि झारिखण्ड के रास्ते में सिंह, बाघ व अन्यान्य वन जन्तुओं, वृक्ष लताओं तक को प्रेम-दान करके धन्य कर दिया। अन्त में अट्ठारह वर्ष नीलाचल वास के समय अपने अवतार के गूढ़ कार्य (श्रीराधा-प्रेमरसास्वा-दन) में विह्वल रहे। इसलिए भविष्य में जीवों के कल्याण के

निमित्त ग्रन्थ आदि लिखकर प्रेम-प्रचार करने का समय उनके पास नहीं था। यह कार्य उन्होंने श्रीरूप गोस्वामी व सनातन गोस्वामी आदि को स्वयं शिक्षा देकर उनके द्वारा सम्पन्न करवाया। उन्होंने नीलाचल में भावाविष्ट अवस्था में श्रीस्वरूपदामोदर व श्रीरायरामानन्द के निकट स्वयं शिक्षाष्टक का प्रकाश किया एवं इन आठ श्लोकों के द्वारा अपने प्रेम-प्रचार के अत्यन्त रहस्यमय व सारगर्भित तत्त्वों को सांसारिक जीवों के कल्याणार्थ प्रदान किया। श्रीमन्महाप्रभु का यह उपदेश समस्त उपदेशों का सार है। जीव के लिए जो श्रेयः, काम्य, लक्ष्य, शान्ति व तृप्तिदायक है वही उन्होंने इन आठ श्लोकों की रत्न माला के रूप में गूंथ कर विश्वजीवों के गले में पहिना दी है। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीचैतन्यचरितामृत के अन्तःलीला के बीसवें परिच्छेद में इस शिक्षाष्टक का समावेश किया है।

प्रथम श्लोक में प्रभु ने कहा है—जो चित्तमार्जनकारी, संसार महादावानल का निर्वापक, मंगलरूप कुमुद के विकास के लिए ज्योत्सना, विद्यारूप बधू का प्राण, आनन्द समुद्र को बर्द्धित करने वाला, जिसके प्रत्येक पद में समस्त रसों का आस्वादन, जो सर्वात्मस्नपनकारी ( अर्थात् समस्त इन्द्रियों, मन, बुद्धि, आत्मा को स्नान कराने वाला ) है, वही श्रीकृष्ण नाम संकीर्त्तन सर्वोत्कर्ष होकर विराजमान हो रहा है।

श्रीमन्महाप्रभु ने जो नाम-संकीर्त्तन के माध्यम से विश्व में प्रेम प्रचार किया है वह प्रेम प्राप्ति के लिए एक इतना अत्यन्त प्रभावशाली महासाधन है कि निरपराध चित्त में नाम



करने के साथ ही साथ प्रेम का उदय होने लगता है। श्रीमद् सनातन गोस्वामिपाद ने अपने बृहद्भागवतामृत में लिखा है—

"नामसंकीर्त्तनं प्रोक्तं कृष्णस्य प्रेमसम्पदि।
बलिष्ठं साधनं श्रेष्ठं परमाकर्ष-मन्त्रवत्॥
तदेव मन्यते भक्तेः फलं तद्रसिकैर्जनैः।
भगवत्-प्रेम सम्पत्तौ सदैवाव्यभिचारतः॥"
(बृ० भा०-२।३।१६४-१६५)

अर्थात् "नाम संकीर्त्तन ही श्रीकृष्ण प्रेम सम्पद् के प्राप्ति का एक अन्तरंग एवं बलशाली साधन है। इसका कारण यह है कि यह मन्त्र के समान परम आकर्षक है। इसी कारण भक्ति रसिकगण नाम संकीर्त्तन को भक्ति का फल कह कर भी मन में धारण करते हैं। कारण यह है कि नाम-संकीर्त्तन-निश्चित रूप से भगवत् प्रेम सम्पद् को प्रकाशित करता है। यह कभी भी अन्यथा नहीं होता है।"

इस श्लोक की टीका में श्रील गोस्वामिपाद ने स्वयं लिखा है—"ननु सर्वेषामपि साधनभक्ति प्रकाराणां प्रेमैव फल-मित्यभिप्रेतं सत्यं, नामसंकीर्त्तने सति प्रेम्नः अवश्यम्भा-वित्वात् उपचारेण तदेव फलं मन्यत इति" अर्थात् 'यदि कोई कहे कि—सभी प्रकार की साधनभक्ति का फल तो प्रेम ही है, और नाम तो प्रेमप्राप्ति का साधन है, अतः नाम को साधन का फल किस प्रकार कहा जा सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वास्तव में नामसंकीर्त्तन निश्चित रूप से इस प्रेम सम्पत्ति को उत्पन्न करता रहता है, अर्थात् नाम-संकीर्त्तन में प्रेमोदय के अवश्यम्भावित्व के कारण इसे भक्ति का फल कहा जाता है।' श्रीमन्महाप्रभु ने इसीलिए शिक्षाष्टक के प्रारम्भ में

ही कहा है "परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम्" अर्थात् 'श्रीकृष्ण-नाम संकीर्त्तन समस्त साध्य और साधनों में सर्वोपरि विराजमान होकर जययुक्त हो रहा है।' श्रील सनातनगोस्वामिपाद के प्रति श्रीमहाप्रभु का उपदेश है—

"भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविध-भक्ति ।
कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति ।।
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नामसंकीर्त्तन ।
निरपराधे नाम हैते हय प्रेमधन ।।"
( चै० च० )

नाम-संकीर्त्तन देश-कालादि के बन्धन से रहित, अधिकार-अनधिकार से परे, परम अमृतमय नाम-संकीर्त्तन साधक की साधनावस्था और सिद्ध की सिद्धावस्था में सभी प्रकार उत्कर्ष को प्राप्त होकर जययुक्त हो रहा है।

श्रीमन्महाप्रभु ने इस शिक्षाष्टक के प्रारम्भ में ही कहा है—"हर्षे प्रभु कहे—शुन स्वरूप रामराय। नाम-संकीर्त्तन कलौ परम उपाय।।" ( चै० च० )। यह स्वयं उपेय होते हुए भी श्रेष्ठतम उपाय है।

'संकीर्त्तन' का अर्थ है—सम्यक् कीर्त्तन। इसका अर्थ दो प्रकार से है।

(१) अनेक लोग श्रीखोल-करताल के साथ मिलकर उच्च स्वर से कीर्त्तन करें तो उसे संकीर्त्तन कहते हैं। "कृष्ण-वर्णं त्विषाकृष्णमित्यादि" ( भा०-११।५।३२ ) श्लोक की टीका में श्रीजीवगोस्वामिपाद ने लिखा है—"संकीर्त्तनं बहुभिर्मिलित्वा श्रीकृष्णगान-सुखम्" ( क्रम सन्दर्भः )। श्रीजीव ने आगे भी लिखा है—यह नाम उच्चस्वर से ही विशेष प्रशस्त



है। —"नामकीर्त्तनञ्चेदमुच्चैरेव प्रशस्तम्।" श्रील गोस्वामिपाद ने प्रमाण के साथ-साथ युक्ति भी दिखाई है। "ते च प्राणिमात्राणामेव परमोपकर्त्तारः किमुत स्वेषाम्;यथोक्तं नारसिंहे श्रीप्रह्लादेन— "ते सन्तः सर्वभूतानां निरुपाधिक बान्धवाः। ये नृसिंह भवन्नाम गायन्त्युच्चैर्मुदान्विताः ।।" इति ( भक्ति संदर्भः—२६९ अनुः )"। अर्थात् जो उच्च स्वर से कीर्त्तन करते हैं, वे अपना हित करने के साथ-साथ प्राणिमात्र का भी हित करते हैं। श्रीनृसिंहपुराण में श्रीप्रह्लाद महाशय ने श्रीनृसिंहजी की स्तुति के प्रसंग में कहा है—'हे भगवन्! जो महद्गण उच्चस्वर से परम आनन्दपूर्वक आप का नाम-कीर्तन करते हैं, उन्हें समस्त जीवों का निरुपाधि बन्धु समझना चाहिए।' उच्चस्वर से कीर्त्तन की महिमा के प्रसंग में श्रीहरिदास ठाकुर की उक्ति निम्न प्रकार है—

"जपिले से कृष्ण नाम आपनि से तरे ।
उच्च संकीर्त्तने पर-उपकार करे ।।
अतएव उच्च करि कीर्त्तन करिले ।
शतगुण फल हय सर्वशास्त्रे बले ।।
जिह्वा पाइया ओ नर विने सर्वप्राणी ।
ना पारे बलिते कृष्णनाम हेन ध्वनि ।।
व्यर्थ-जन्मा इहारा निस्तरे जाहा हैते ।
बल देखि कोन् दोष से कर्म करिते ।।
केह आपनारे मात्र करये पोषण ।
केह वा पोषण करे सहस्रेक जन ।।
दुइते के बड़ भावि बुझह आपने ।
एइ अभिप्राय गुण उच्च संकीर्त्तने ।।"
(श्रीचैतन्य भागवत आदि-१४ परिः)

(२) श्रीकृष्ण नाम के माधुर्य आस्वादन के प्रति विशेष ध्यान रखते हुए मन:संयोग के सहित प्रीतिपूर्वक नाम-कीर्त्तन को भी संकीर्त्तन अथवा सम्यक् कीर्तन कहते हैं। अर्थात् नाम का फल शीघ्र अनुभव करने के लिए नियमपूर्वक संख्या पूरी करने के उद्देश्य से यन्त्र के समान मन:संयोग रहित नाम कीर्तन न कर के प्रीतिपूर्वक नाम-कीर्त्तन का अभ्यास करना चाहिए। श्रीमद्भागवत के ६।२।२० श्लोक की क्रम संदर्भ टीका में श्रीजीव ने लिखा है—"श्रीभगवन्नामग्रहणं खलु द्विधा भवति, केवलत्वेन स्नेह संयुक्तत्वेन च। तत्र पूर्वेणापि प्रापयत्येव सद्यस्तल्लोकं तन्नाम। परेण च तत्सामीप्यमपि प्रापयति। मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते। दिष्टया यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापन इति तद्वाक्यात्।" अर्थात् 'श्रीभगवन्नाम ग्रहण दो प्रकार से हो सकता है। (१) केवल नाम ग्रहण (२) स्नेह-संयुक्त नाम ग्रहण। केवल या प्रीतिशून्य नाम ग्रहण करने से निरपराध व्यक्ति साथ-साथ ही भगवद्धाम को प्राप्त होते हैं, किन्तु स्नेह-संयुक्त नाम ग्रहण करने से व्यक्ति भगवत् सान्निध्य के साथ-साथ भगवद् सेवा भी प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुई वृजगोपीगणों के प्रति कहा था—हे वृजसुन्दरीगणों ! मेरे प्रति भक्ति ही जीवों के अमरत्व के हेतु कल्पित होती है। इसलिए मेरे प्रति जो तुम्हारा स्नेह है वह मुझे बलपूर्वक आकर्षित करके तुम्हारे पास उपस्थित करता है।' इस भगवद् वाक्य द्वारा यह जाना जा सकता है कि भगवान् के प्रति स्नेह उन्हें आकर्षित करने का एक परम उपाय है। उसी प्रकार स्नेहपूर्वक या प्रीतिपूर्वक नाम-कीर्त्तन करने से श्रीनाम नामी (श्रीभगवान्) को नाम उच्चारण करने वाले के पास मूर्त रूप में प्रकट कर देता है।



इसीलिए प्रीतिपूर्वक नाम-कीर्त्तन भी सम्यक् कीर्त्तन या संकीर्त्तन है।

श्रीमन्महाप्रभु इस श्लोक में इसी महाशक्तिशाली श्रीकृष्ण-नाम संकीर्त्तन को सात विशेषणों के द्वारा विभूषित कर रहे हैं। पहिले कहते हैं—

(१) **चेतोदर्पणमार्ज्जनम्**— श्रीकृष्णनाम संकीर्त्तन चित्तदर्पण मार्ज्जनकारी है। विषय वासना तथा दुष्ट संस्कार रूप मल (गन्दगी) से ढँके होने के कारण कृष्णवहिर्मुख मानव के चित्तरूप दर्पण में विभु व व्यापक तत्व श्रीकृष्ण व उनके धाम आदि प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं। दर्पण जितना ही स्वच्छ होगा उसके सम्मुख रखी हुई वस्तु का प्रतिबिम्ब भी उतना ही स्पष्ट रूप से दिखाई देगा। उसी प्रकार श्रीहरिनाम संकीर्त्तन द्वारा चित्तरूपी दर्पण जितना ही साफ किया जायेगा, श्रीकृष्ण रूप गुणादि माधुरी उसमें उतनी ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होगी। श्रीहरिनाम कीर्त्तन के द्वारा चित्तरूप दर्पण जितना परिमार्जित (स्वच्छ) होता है, ज्ञान, योगादि साधनाओं से वह उतना स्वच्छ कभी भी नहीं होता है।

"कीर्त्तनादेव कृष्णस्य विष्णोरमिततेजस:।
दुरितानि विलीयन्ते तमांसीव दिनोदये॥
नान्यत् पश्यामि जन्तूनां विहाय हरिकीर्त्तनम्।
सर्वपाप-प्रशमनं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तम॥"

(पद्मपुराण)

'हे द्विजोत्तम ! असीम प्रभावशाली भगवान् श्रीकृष्ण के नाम-कीर्त्तन से, दिन के आगमन से अन्धकार के विनाश होने के समान, समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। श्रीहरिनाम

कीर्त्तन के अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा अत्यन्त सरलता से जीव के समस्त पापों के प्रशमित (नष्ट) होने का अन्य कोई प्रायश्चित नहीं है।' "सर्वपाप प्रशमन-रूपं प्रायश्चित्तमन्यत् न पश्यामि, अन्यस्य सवासन-पापक्षपणाशक्तेः" ( टीका श्रील सनातन )। अर्थात् 'श्रीहरिनाम संकीर्त्तन के द्वारा जिस प्रकार समस्त पाप-वासनाओं सहित समस्त पाप प्रशमित होते हैं, उस प्रकार अन्य किसी साधन के द्वारा नहीं।'

समस्त साधनाओं के फललाभ का प्रथम व मुख्य स्तर चित्त का शुद्ध होना है। चित्त-शुद्ध हुए बिना किसी भी साधना के द्वारा कुछ भी फल प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ज्ञान आदि साधन अग्नि के समान मल नाश करने के साथ चित्त को भी नाश करते हैं। एक मात्र नाम-साधना ही गंगाजल के समान चित्त को धोकर स्वच्छ व शुद्ध करती है। नाम-कीर्त्तन करने वाले के चित्त के शुद्ध होने का एक और भी मूल्यवान् कारण है। कृष्णभक्त साधु महात्माओं को भगवन्नाम अत्यन्त प्रिय है। किसी के मुख से भगवन्नाम सुनकर वे अत्यन्त आकर्षित होते हैं और नाम-कीर्त्तनकारी के प्रति कभी साक्षात् भाव से और कभी परोक्षरूप से, कृपा वर्षण करते हैं। इस प्रकार महत् कृपा से श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रीगुरुपादपद्मों के आश्रय ग्रहण करने को प्रयोजनीयता की उपलब्धि होती है अथवा श्रीगुरुपादपद्मों के आश्रय ग्रहण करने की आवश्यकता का अनुभव होता है। बाद में वे गुरुपादपद्मों का आश्रय ग्रहण कर भजन सम्पद् लाभ करते हैं। भक्तिशास्त्र में यह अवस्था 'भजनक्रिया' के नाम से अभिहित होती है।

(२) '**भवमहादावाग्निनिर्वापणं**— जड़ीय ( सांसारिक ) वस्तुओं के साथ मानवीय सम्बन्धों की रचना का नाम ही है



'भव' या संसार। यही संसार ज्वाला महादावाग्नि के समान महान् ज्वालामय है। दावाग्नि या वन की अग्नि से जिस प्रकार समस्त पेड़, पौधे, लतायें जीव-जन्तु आदि तापित व भस्म होते हैं, उसी प्रकार इस संसार रूपी दावाग्नि से कृष्ण-बहिर्मुख जीव त्रिताप ज्वाला में लगातार तापित होते और जलते हैं। संसार को दावानल के साथ दृष्टान्त देने का कारण यह है कि दावानल को कोई जलाता नहीं है, वृक्ष समूहों के पारस्परिक घर्षण से इसका जन्म होता है, उसी प्रकार जीव की संसार ज्वाला भी चित्त में दुर्वासनाओं के घात-प्रतिघात (पारस्परिक चोट) से उत्पन्न होती है। इस ज्वाला के लिए जीव स्वयं ही जिम्मेदार (दायी) है, अन्य कोई नहीं। किन्हीं श्रीगुरुदेव ने अपने एक शिष्य को रसोई बनाने के लिए पास के एक गाँव से अग्नि लाने को कहा। शिष्य ने अग्नि की खोज की लेकिन गाँव में अग्नि न पा कर उसने श्रीगुरुदेव से प्रश्न किया कि अब वह अग्नि लेने के लिए कहाँ जाये? गुरुदेव ने समझ लिया कि यह तो सर्वथा अयोग्य है और थोड़ी सी अग्नि लाने की भी इसकी सामर्थ्य नहीं हैं। इसलिए क्रोधित हो कर बोले—'जाओ यम के घर से अग्नि ले कर आओ।' शिष्य सरल-हृदय था, श्रीगुरुदेव के आदेश के पालनार्थ वह यम का घर खोजने निकल पड़ा। यम महाराज गुरुभक्त शिष्य की उत्कण्ठा देखकर स्थिर न रह सके और वे उसे अपने घर ले गये। शिष्य ने गुरुदेव की आदेश यम महाराज को बताई और फिर आग चाही। यम महाराज बोले—वत्स! यहाँ आग जलाने की कोई व्यवस्था नहीं है। यहाँ पर उपस्थित आग से अनेकों लोग भस्म होते हैं, किन्तु वह आग वे लोग अपने साथ ही लाते हैं और अपनी लाई हुई उस आग

के द्वारा ही वे भस्म हो जाते हैं। इसीलिए वह आग अन्य किसी कार्य में प्रयोग नहीं की जा सकती है। कृष्णवहिर्मुख जीव को अपने स्वयं के कर्मफलानुसार संसार-ज्वाला में दग्ध होना पड़ता है, इसीलिए इसकी दावानल के साथ तुलना की गई है।

द्वितीयत: जिस समय दावानल से पेड़-पौधे लता आदि दग्ध होते हैं; उस समय उन्हें वहाँ खड़े खड़े हो जलना पड़ता है, और उनके भागकर बच निकलने का भी कोई उपाय नहीं होता है। उसी प्रकार माया बद्ध जीव भी रात-दिन त्रिताप ज्वाला में दग्ध हो कर कोई प्रतिकार न पाकर खड़े-खड़े ही जल जाता है। कृष्णवहिर्मुख जीव का त्रिताप ज्वाला से बचने का एक मात्र उपाय है—कृष्णोन्मुख होना। जैसे घनघोर मेघ व वृष्टि के अतिरिक्त भीषण दावानल से निवृत्ति नहीं पाई जा सकती, उसी प्रकार नाम-संकीर्त्तन रूप मेघ को छोड़ कर अन्य किसी भी प्रकार त्रिताप-ज्वाला से निवृत्ति नहीं पाई जा सकती है। नाम-माधुर्य की वर्षा से जीव का सब प्रकार का जड़ीय सम्बन्ध दूर हो जाता है और चित्-स्वरूप भगवत् दास के अभिमान से सदा के लिए त्रिताप-ज्वाला से छुटकारा मिल जाता है। भक्ति शास्त्र में 'अनर्थ-निवृत्ति' नामक जिस साधन स्तर की बात कही गई है और साधन भक्ति के जिस "क्लेशघ्नी" गुण की बात कही गई, इस 'भवमहादावाग्निनिर्वापणं' विशेषण से उसे भी निर्देशित हुआ जानना चाहिए।

(३) 'श्रेय: कैरव-चन्द्रिकावितरणम्'—श्रेय: का अर्थ है मंगल, कैरव का अर्थ है कुमुद और चन्द्रिका का अर्थ है



ज्योत्सना। नाम संकीर्त्तन जीव के मंगल रूप कुमुद के विकास के लिए ज्योत्सना के समान है। ज्योत्सना जिस प्रकार अपने प्रकाश से कुमुद-कुसुम को प्रफुल्लित कर देती है, श्री नाम संकीर्त्तन भी मनुष्य के मंगलरूप कुमुद को उसी प्रकार प्रफुल्लित कर देता है। यह श्रेय: अथवा मंगल क्या है ? श्रुति में श्रेय: और प्रेय: इन दो वस्तुओं के विषय में लिखा है—

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीर:।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमात् वृणीते॥"
(क्याठके—१।२।२)

अर्थात् "श्रेय: और प्रेय: मनुष्य का आश्रय करते हैं। ज्ञानी व्यक्ति प्रकृष्टरूप से विचार द्वारा भिन्न रूपों में इसके तत्त्व से अवगत होते हैं। ज्ञानिगण प्रेय: की अपेक्षा श्रेय: का ही वरण करते हैं, और मन्दमति लोग योग क्षेम (अप्राप्त विषय सुख को प्राप्ति और प्राप्त विषय सुख की रक्षा) की कामना से प्रेय: को ही ग्रहण करते हैं।" श्रेय: या मंगल का अर्थ यहाँ पर भक्ति की ओर इंगित करना ही है—'श्रेय: सृति भक्तिम्' (भा:)। 'श्रेय: शब्द सामान्यत: मंगल, कल्याण, अभ्युदय आदि अर्थवाचक होते हुए भी भगवद्दास जीव जिसके द्वारा सेवा लाभ कर सके, शुद्ध जीव के लिए वही वास्तव में श्रेय: है। देह-दैहिकादि के शुभ-अशुभ के प्रति जितने दिन आवेश रहेगा, उतने दिन जीव को अमंगलमय संसार के गर्त में पड़कर नाना योनियों में भ्रमण करना ही होगा। कृष्ण नाम संकीर्त्तन मानव के देह-दैहिकादि के आवेश को नष्ट करके

चाँद के आकर्षण से ज्वार-भाटे के रूप में बहुत ऊँची-ऊँची लहरें उठकर उसके तटबन्धों का अतिक्रमण कर देती है। उसी प्रकार इस संसार में आनन्द प्राप्ति के विभिन्न साधनों के होते हुए भी भक्त के हृदय में कोई भी साधन अलोड़न नहीं कर पाता, किन्तु श्रीकृष्णनाम संकीर्त्तन से उसके ( भक्त ) हृदय रूपी आनन्दसिन्धु में अनन्त तरंगे पैदा होकर उसमें उफान उत्पन्न कर देती है। नाम और नामी ( श्रीभगवान् ) अभिन्न होने के कारण नामी श्रीभगवान् के सौन्दर्य माधुर्य का अफुरन्त आस्वादन नामके अन्दर निहित है। मिश्रीका स्वाद मीठा होते हुए भी पित्त-दुष्ट जिह्वा पर उसका आस्वादन कड़वा अनुभव होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णनाम असीम आनन्दपूर्ण होते हुए भी अपराध-दुष्ट जिह्वा पर उसकी आनन्दरूपताका कोई अनुभव नहीं होता है। इससे अगर कोई यह कहे कि नाम कीर्त्तन में कोई आनन्द नहीं है, ऐसा ठीक नहीं होगा। जो मेरी शक्ति-हीन इन्द्रिय में अनुभूति उत्पन्न न कर सके उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा कहना युक्ति संगत न होगा। वैज्ञानिक ( खगोलशास्त्री ) कहते हैं कि आकाश में ऐसे नक्षत्रों का अस्तित्व है जिनका प्रकाश आज तक हमारी पृथ्वी को स्पर्श नहीं कर पाया है। इसे यदि कोई यह कहे कि नहीं,ऐसे नक्षत्रों का अस्तित्व तो है ही नहीं तो इसे किस प्रकार ठीक कहा जायेगा ? क्योंकि जिन वैज्ञानिकों ने इन नक्षत्रों को दूरदर्शी यन्त्र से देखा है उन्होंने इनके अस्तित्व को स्वीकार किया है और कहा है कि यह नक्षत्र वास्तव में विद्यमान हैं। उसी प्रकार जिन सब महद् पुरुषों का चित्त व जिह्वा अपराधशून्य और निर्मल है, वे नामानन्द का आस्वादन पा कर धन्य हो रहे हैं। उनका आस्वादन ही उसका प्रमाण है। तभी तो श्रीमद् जीव



गोस्वामिपाद लिखते हैं—"अतएवानन्दरूपत्वमस्य महद् हृदय-साक्षिकं यथाश्रीविग्रहस्य" अर्थात् 'साक्षात् भगवद्मूर्ति के समान भगवन्नाम की आनन्दरूपता, के बारे में महद्पुरुषों के अनुभव ही श्रेष्ठ प्रमाण हैं।' भक्त ही अनुभव करते हैं—"कृष्ण नामे ये आनन्दसिन्धु आस्वादन। ब्रह्मानन्द तार आगे खातोदक सम॥" ( चै० च० )। अभक्त असुरगण आनन्दघनविग्रह श्रीकृष्ण का साक्षात् दर्शन पा कर यहाँ तक कि मल्लक्रीया के समय चाणुर-मुष्टिक आदि असुर उस आनन्दघन विग्रह का स्पर्श पाकर भी आनन्द के स्थान पर दुःख और यातना ही पाये। उसी प्रकार चिदानन्दरसपूर्ण श्रीकृष्ण-नाम का आस्वादन भी अपराधी या अभक्त की जिह्वा पर नहीं होता है।

श्रीकृष्ण नाम संकीर्त्तन आनन्दसिन्धु को सदैव ही बढ़ाता है। यहाँ पर आनन्द शब्द से भावानन्द को लक्ष्य किया गया है। अर्थात् साधक रुचि स्तर पर रह कर नाम कीर्त्तन में जिस आनन्द का आस्वादन करता है, आसक्ति स्तर में वह आनन्दर्बाद्धित होता है और धीरे-धीरे भाव व रति स्तर में पहुँच कर वह आनन्द अपार व अनन्त समुद्र के समान हो उठता है। नाम भी, चन्द्र के प्रभाव से समुद्र में उठे ज्वार-भाटे के समान, भक्त के हृदय के आनन्द सिन्धु को उठाता है। भावरूप चन्द्रोदय से भक्त का आनन्दसिन्धु इतना समुच्छसित हो उठता है कि उसके आगे मोक्षानन्दभी तिरस्कृत होकर तुच्छ हो जाता है। इतनी भावदशा का प्राप्त होना हजारों साधनों से भी सुदुर्लभ है। इसलिए इस विशेषण से भक्तिशास्त्र में वर्णित रतिदशा की 'मोक्षानन्द लघुताकृत्' और 'सुदुर्लभा' इन दो गुणों की बात भी व्यंजित होती है।

(६) **'प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्'**—हरे कृष्ण आदि नाम-कीर्तन के प्रत्येक पद में पूर्ण अमृत के आस्वादन का लाभ होता है। प्रत्येक पद के साथ-साथ नाम के प्रत्येक अक्षर में भी पूर्ण अमृत का आस्वादन निहित है। महाप्रभु जगन्नाथ नाम का उच्चारण नहीं कर पाते थे। 'जजगग जज गग गद्गद वचन।' (चै० च०)। यहाँ पर पूर्णामृत से सविशेष भगवद् रसानन्द और प्रेमानन्द की बात ही कही हुई समझनी चाहिए। प्रेम स्वयं ही पूर्णामृत है और पूर्णामृत स्वरूप भगवद् रसानन्द के आस्वादन का कारण भी है। इस विश्व में जिस प्रकार अमृत की अपेक्षा स्वादु वस्तु और कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार आध्यात्मिक राज्य में प्रेम की अपेक्षा अथवा प्रेम जो भगवद् रसानन्द का आस्वादन कराता है उसकी अपेक्षा अधिक स्वाद और किसी भी वस्तु का नहीं है। ज्ञानादि के साध्य ब्रह्मानन्द भी अपूर्ण हैं क्योंकि उसमें आस्वादन की वैचित्री नहीं है। अन्त में आस्वाद्य, आस्वादन और आस्वादक एक हो जाते हैं, इसलिए वह अपूर्ण है।

प्रेम के उदय होने पर जब नाम कीर्तन चलता रहता है, तब नाम कीर्तन, श्रवण और स्मरण के प्रत्येक पद-पद में कृष्ण-स्फूर्ति होने लगती है, तब ही भगवद् रसास्वादन पूर्णरूप से सम्पन्न होता है। प्रेमपूर्ण चित्त में नाम की आवृत्ति श्रीकृष्ण को आकर्षित करने लगती है, परिणामस्वरूप साक्षात् भगवद् दर्शन होने लगता है। इससे प्रेम की 'सान्द्रानन्द-विशेषात्मा' और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' दो गुणों की बात भी व्यक्त हुई।

(७) **'सर्वात्मस्नपनम्'**—तब भगवान् के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-सरोवर में नाम साधक की समस्त इन्द्रियां, मन,



बुद्धि, शुद्ध आत्मा तक पूर्णरूप से सरोवर हो जाती है। जिह्वा द्वारा खाद्य वस्तु के सेवन से जिस प्रकार सभी इन्द्रियाँ परिपुष्ट होती है, उसी प्रकार नामकीर्त्तन द्वारा भी सभी इन्द्रियाँ आनन्दरस में आप्लुत हो जाती हैं। जिह्वा द्वारा नामोच्चारण होने से जिस प्रकार वागेन्द्रिय आनन्द रस में निमग्न होती है, कान से सुनने से ही नाम रस से कर्णेन्द्रिय मग्न हो जाती है, साथ-ही-साथ नाम रस मन में उदित होने से मन, बुद्धि, आत्मा नामानन्द के अथाह जल में डूब जाती है। और फिर आस्वादन के साथ-साथ विपुल तृष्णा या पिपासा उदित होकर और अधिक आस्वादन की लालसा को बढ़ाती है। तब मन में होता है कि—

"तुण्डेताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये,
कर्ण क्रोड़ कड़म्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चेतः प्रांगणसंगिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं,
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी॥"

(विदग्धमाधव)

अर्थात् 'जो' जिह्वा से उच्चारण होने पर अनेक जिह्वायें प्राप्त करने की वासना जगाते हैं, कर्ण से स्पर्श होते ही करोड़ों कानों को प्राप्त करने के निमित्त इच्छा जगाते हैं, 'जो' चित्त-प्रांगण की संगिनी होने पर सभी इन्द्रियों के कार्य-कलापों को निश्चल कर देते हैं, न मालूम 'कृ' और 'ष्ण' यह दो अक्षर कितने प्रचुर अमृत द्वारा रचे गये हैं। "कि कहब नामेर माधुरी। केमन अमिया दिया, के जानि गड़िल इहा, कृष्ण एइ दु' आखर करि।" (यदुनन्दन-ठाकुर)। अनादि-काल से इस संसार मरुभूमि में पड़े हुए, प्रतिनियत त्रिताप

ज्वाला में दग्ध जीव के देह, मन, प्राण और सर्वेन्द्रिय के प्रत्येक अणु-परमाणु को परमानन्द रस में एकमात्र श्रीकृष्ण-नामामृत रस ही आप्लुप कर सकता है। श्रील सनातन गोस्वामिपाद ने (वृ० भा०-२।३।१२) में लिखा है—

"एकस्मिन्निन्द्रिये प्रादुर्भूतं नामामृतं रसैः ।
आप्लावयति सर्व्वाणीन्द्रियाणि मधुरैर्निजैः ॥

"नामामृतरस एकमात्र जिह्वा पर प्रादुर्भूत होते ही अपने माधुर्यरस द्वारा समस्त इन्द्रियों को आप्लावित कर देता है।" इस रूप में श्रीकृष्णनाम संकीर्त्तन विशेष रूप से जययुक्त हो रहा है। "परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम् ।" जीव चाहे जितने भी पाप तापादि के चरम स्तर पर क्यों न पहुँचे हों, दीनजनों के विषय में श्रीकृष्ण नाम का कीर्त्तन ही उनका सब प्रकार का कल्याण करेगा अर्थात् भगवत्प्रेम एवं भगवत्प्रेम-सेवानन्द लाभ करके वे धन्य होंगे। श्रील स्वरूप-दामोदर एवं रायरामानन्द के पास श्लोक की संक्षिप्त व्याख्या एवं माधुरी स्वयं आस्वादन की और हम जीवों के लिये भी अवशेष रख दिया।

"संकीर्त्तन हैते—पाप-संसार-नाशन ।
चित्तशुद्धि, सर्वभक्ति साधन-उद्गम ॥
कृष्ण प्रेमोद्गम, प्रेमामृत-आस्वादन ।
कृष्ण प्राप्ति, सेवामृतसमुद्रे मज्जन ॥"१॥

**नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-**
**स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।**
**एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि**
**दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥२॥**



हे भगवन् ! आपने अपने अनेक नामों का प्रचार किया है, और फिर इन नामों में आपने अपनी सारी शक्ति अर्पित कर रखी है, श्रीनाम के स्मरण आदि के विषय में भी कोई समय आदि का नियम नहीं रखा है; आपकी इस प्रकार की करुणा। किन्तु मेरा ऐसा दुर्दैव कि तुम्हारे इस प्रकार के नाम में भी मेरा अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ।

अखिल भक्तिरसमय अवतार श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीनाम कीर्त्तन के सर्वोत्कर्ष सूचक प्रथम श्लोक का पाठ किया। भक्ति के अतृप्ति स्वभाव के वशीभूत नाम माधुर्य की स्मृति से प्रभु के मन में आया—'नाम के अन्दर प्रभु ने कितनी करुणा भर रखी है। किन्तु हाय ! मैं उस नाम के रसास्वादन से वंचित हूँ। इस प्रकार कृष्ण नाम में मेरा अनुराग नहीं जन्मा।' दैन्य एवं विषाद से प्रभु का चित्त समाच्छन्न हो गया। इसलिए परतत्त्व की पराकाष्ठा होते हुए भी अनर्थयुक्त साधक की भूमिका में नीचे उतर कर शिक्षाष्टक का यह दूसरा श्लोक पाठ किया। श्रील कविराज गोस्वामिपाद लिखते हैं—

"उठिल विषाद दैन्य पढ़े आपन श्लोक।
जार अर्थ शुनि सब जाय दुःख शोक॥"
(चै० च० )

इस श्लोक अर्थ सुनकर मेरे भी दुःख-शोक दूर हो जायेगें। दुःख-शोक दूर होने का अर्थ है—श्रीनाम में प्रीति का संचार होना, जिसके फलस्वरूप आनुषंगिक भाव से ही दुःख-शोक आदि दूर हो जाते हैं। अथवा श्रीनाम में प्रीति होने से भक्त का जो भी दुःख व शोक है, उसका नाश होना। इस द्वितीय श्लोक में एक ओर जहाँ श्रीकृष्ण की विशाल करुणा

की बात कही गई है, वहीं दूसरी ओर इतने करुणामय श्रीनाम में प्रीति या अनुराग न होने का कारण भी कहा गया है। इसलिये इस श्लोक की व्याख्या हमें ध्यान से समझनी होगी।

मनुष्यों की रुचि भी उनके संस्कारानुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। "भिन्नरुचिर्हि लोकाः।" "अनेक लोकेर वाच्छा अनेक प्रकार।" ( चै० च० )। तभी तो सभी लोगों का भगवान् के किसी एक नाम में ही रुचि या लोभ नहीं हो सकता है। इसीलिए करुणामय श्रीभगवान् ने अपने अनन्त अवतारों के अनन्त नामों का प्रचार व प्रकाश किया है। कृष्ण, राम, नृसिंह, वामन आदि नामोंमें से जिसकी जिस नाम में रुचि हो वह अपने उसी प्रिय नाम का कीर्त्तन कर सकता है। कृष्ण, राम आदि मुख्य नामों को छोड़कर भी श्रीभगवान् के विभिन्न अवतारों के जन्मगत, कर्मगत, गुणगत और लीला-गत अनेकों नाम हैं। जन्मानुरूप नाम जैसे-यशोदानन्दन, नन्द-कुमार, दाशरथि इत्यादि। कर्मानुरूप नाम जैसे—गोवर्द्धन-धारी, पूतनामोक्षण, कंसारि, रावणारि इत्यादि। गुणानुरूप नाम जैसे—दमामय, भक्तवत्सल इत्यादि। लीलानुरूप नाम जैसे—दामोदर, रासबिहारी इत्यादि। श्रीकृष्ण के इन समस्त नामों में से जिसकी जिस नाम में रुचि हो वह अपने उसी निज प्रिय नाम का कीर्त्तन करके चित्त शुद्धि से प्रारम्भ होकर क्रमानुसार प्रेमलाभ और भगवत् पादपद्म सेवा लाभ कर के अपने को धन्य कर सकता है। निज प्रिय नाम-कीर्त्तन की महिमा श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से वर्णित है—

"एवं व्रतः स्वप्रियनाम-कीर्त्या-
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।



हसत्यथो रोदति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकवाह्यः॥"

( भा०-११।२।४० )

अर्थात् "इस प्रकार भक्ति अंगों के अनुष्ठानपरायण भक्त निज प्रिय भगवन्नाम का कीर्त्तन करते-करते प्रेमोदयवश द्रवित चित्त होकर उन्मत्त की भाँति कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी गाते हैं और कभी नृत्य करते हैं।" इस श्लोक की सारार्थदर्शिनी टीका में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद जो लिखते हैं उसका सार यह है कि अपने प्रिय नाम का कीर्त्तन भक्त के चित्त में प्रेम का संचार करता है, तब इस संसार का दृश्य उसके सामने से हट जाता है। वे रात-दिन श्रीभगवान् एवं उनकी मनोहर लीलाओं का स्फुरण प्राप्त होते ही हास्य व रोदन आदि करने लगते हैं। जैसे भक्त स्फुरण होने से देखते हैं—श्रीकृष्ण माखन चोरी करने के उद्देश्य से किसी गोपी के घर में प्रवेश करते हैं, बूढ़ी गोपी जानकारी मिलते ही "माखन चोर को पकड़ो-पकड़ो" चिल्लाती हुई दौड़कर आती है। उसकी चिल्लाहट सुनकर श्रीकृष्ण डर कर भाग जाते हैं—इस प्रकार की हास्योद्दीपक लीला को देखकर भक्त हँसते हैं। श्रीकृष्ण के भाग जाने से स्फुरण में रुकावट आ जाती है और वे फिर उन्हें नहीं देख पाते हैं, और इससे भक्त रोने लगते हैं। प्रिय भक्त का रोदन सुनकर श्रीकृष्ण पुनः स्फुरण में उसे दर्शन देने लगते हैं, जिससे भक्त को आनन्द होता है और वह उनके रूप गुण आदि का गान करते-करते आनन्द विह्वल होकर नृत्य करने लगता है।

गौड़ीय वैष्णवगणों के रागानुगा-भजन में भी-जिसमें स्वाभीष्ट लीला का श्रवण, कीर्त्तन और ध्यान ही प्रधानतम

भजनाङ्ग कहा गया है—अपने प्रिय नाम कीर्त्तन द्वारा उक्त भजनाङ्ग और अधिक उज्ज्वल हो उठते हैं, ऐसा मानकर श्रीमद् सनातन गोस्वामिपाद ने बृहद्भागवतामृत में इस सम्बन्ध में सिद्धान्त किया है—

"तद्धि तत्तद्व्रजक्रीड़ा ध्यान-गान प्रधानया ।
भक्त्या सम्पद्यते प्रेष्ठ-नामसंकीर्त्तनोज्ज्वलम् ।।"

(बृ० भा०-२।५।२१८)

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जिन अपने-अपने प्रिय भगवन्नामों के कीर्त्तन द्वारा भक्त प्रेम लाभ करके धन्य हो जाते हैं, उन सभी नामों की महिमा क्या समान है ? शास्त्र को देखने से जाना जा सकता है कि श्रीभगवान् का नाम श्रीभगवान् के समान ही सच्चिदानन्द स्वरूप है, इस हिसाब से उनके सभी नाम समान हैं, फिर भी नाम माहात्म्य की ओर ध्यान देकर विचार करने से श्रीकृष्ण नाम का श्रेष्ठत्व समझा जा सकता है ।

नाम और नामी जब अभिन्नतत्त्व हैं 'अभिन्नत्वात् नाम-नामिनोः' तब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का नाम भी अन्य भगवत् स्वरूपों के नामों की अपेक्षा अधिक महिमा सम्पन्न होगा इसमें और सन्देह ही क्या है ? श्रीकृष्ण ने स्वयं ही अर्जुन के प्रति कहा है "नाम्नां मुख्यतमं नाम कृष्णाख्यं में परंतप ।" अर्थात् 'हे अर्जुन ! मेरा कृष्ण नाम अन्य सभी नामों में मुख्यतम है ।'

श्रीविष्णुतत्त्व में मत्स्य, कूर्मादि समस्त अवतारों की अपेक्षा श्रीनृसिंह एवं श्रीनृसिंह की अपेक्षा श्रीरामचन्द्र की श्रेष्ठता की बात शास्त्र दृष्टि से जानी जाती है । नाम और



नामी को अभिन्नतत्त्व कह कर श्रीराम के नाम को पद्मपुराणादि में विष्णु के अन्यनामों की अपेक्षा श्रेष्ठ कह कर वर्णित किया गया है । पद्मपुराण में श्रीमन्महादेव भगवती दुर्गा को कहते हैं—समस्त देवताओं के नाम की अपेक्षा श्रीविष्णु के नाम का कीर्त्तन ही श्रेष्ठ है । और विष्णु के सहस्रनाम की अपेक्षा राम का नाम अधिक महिमामय है । "राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे । सहस्रनामभिस्तुल्यं राम नाम वरानने ।।" और ब्रह्माण्डपुराण में देखा जाता है—"सहस्र-नाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत् फलम् । एकवृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति ।।" अर्थात् श्रीविष्णु के सहस्रनाम का तीन बार पाठ करने से जो फल प्राप्त होता है, एक बार कृष्ण नाम का उच्चारण करने से वही फल लाभ होता है । श्रीचैतन्य चरितामृत में भी वर्णन किया गया है—"राम नाम तारक करे मुक्तिदान । कृष्णनाम पारक करे प्रेम दान ।।" इसीलिए किसी महात्मा ने कहा है—"वृन्दावन से वन नहीं, नन्दगाँव से गाँव । वंशीवट से वट नहीं, कृष्ण नाम से नाम ।।" यह श्रीकृष्ण नाम ही समस्त नामों का मूल है । इसीलिए प्रथम श्लोक में कहा गया है—"परं विजयते श्रीकृष्ण-संकीर्त्तनम् ।"

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—'निज सर्वशक्तिस्तत्रार्पिता' श्रीभगवान् ने अपने नाम में अपनी सारी शक्ति अर्पण की हुई है । पहिले भगवान् ने अपने नाम में शक्ति अर्पण नहीं की थी, बाद में अर्पण की है, ऐसा नहीं है । नाम में श्रीभगवान् की समस्त शक्ति सदा से ही विराजमान रही है । कारण यह है कि नाम और नामी में कोई भेद नहीं है । श्रीजीव ने लिखा है—नाम श्रीभगवान् का साक्षात् वर्णरूपी अवतार है । "अव-

तारान्तरवत् परमेश्वरस्यैव वर्णरूपेणावतारोऽयमिति" (भगवत् संदर्भः-४८) "कलिकाले नामरूपे कृष्ण अवतार।" (चै०च०)। नाम जब साक्षात् भगवत् अवतार ही है, तब उसमें श्रीभगवान् की सर्वशक्ति नित्य ही विराजमान है, शक्ति को अर्पण करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। तब श्री महाप्रभु ने शक्ति अर्पित करने की बात क्यों कही है ? जीव जगत के नाम से श्रीभगवान् के नाम जो बहुत वैशिष्ट्य है उसको बतलाने के लिए ही शक्ति अर्पण की बात कही है।

श्रीजीव ने लिखा है—"मनोग्राह्यस्य वस्तुनो व्यवहारार्थं केनापि संकेतितः शब्दो नामेति" (भगवत् संदर्भः-४६) अर्थात् "मनोग्राह्य पदार्थ को व्यवहार में लाने के लिए किसी किसी सांकेतिक शब्द विशेष को नाम कहते हैं।" जिस प्रकार 'जल' बोलने से प्यास मिटाने वाले किसी तरल पदार्थ को समझा जा सकता है। किन्तु जबतक जल का पान न किया जाये, तबतक 'जल-जल' जप या कीर्त्तन करने से पिपासा से आतुर व्यक्ति को पिपासा शान्ति नहीं होती है। कारण यह है कि विश्व की किसी भी वस्तु या व्यक्ति के नाम में नामी के गुण विद्यमान नहीं है, नाम नामी की ओर मात्र एक संकेतक है। कोई श्रीभगवान् के नाम को भी इसी प्रकार न समझ ले, इसीलिए कहा है कि "निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता।" श्रीभगवान् तो नित्य ही (सदैव) अपने नाम में अपनी समस्त शक्ति निहित रखते हैं। जल में यदि शक्ति होती—कि जो 'जल-जल' जप करेगा उसको पिपासा शान्ति हो जायेगी, तो जल अपने नाम में यह शक्ति अर्पण करने में कभी चूकता नहीं। कारण यह है कि इस विश्व में सभी अपनी महिमा को प्रकट करना चाहते



हैं। किन्तु विश्व के किसी भी व्यक्ति या वस्तु के नाम में वह शक्ति नहीं है। श्रीभगवान् अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न हैं, इसीलिए उन्होंने अपने नाम में नित्य ही सारी शक्ति अर्पित की हुई है। इसीलिए श्रीभगवान् के विभिन्न नाम समूह नामी (श्रीभगवान्) के मात्र सांकेतिक शब्द ही नहीं हैं, वरन् श्रीनाम श्रीभगवान् से अभिन्न हो कर उनके समस्त गुणों (ऐश्वर्य, माधुर्यादि के साथ करुणा भक्तवत्सलता आदि) को उनकी समस्त शक्ति के साथ अपने में सदा से अवस्थान किये हुए है।

श्री नाम में नामी (श्रीभगवान्) की जो समस्त शक्ति अर्पण करने की बात कही गई है, श्रीभगवान् की शक्ति के समान ही क्या नाम में भी उनकी सर्वशक्ति अभिव्यक्त है या कुछ अन्य तारतम्य या विशेषता है ? श्रीरूपगोस्वामिपाद ने अपने नामाष्टक में लिखा है—

> "वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नामस्वरूपद्वयं
> पूर्वस्मात् परमेव हन्त करुणं जानीमहे।
> यस्तस्मिन् विहितापराधनिवहः प्राणीसमन्ताद्भवे-
> दास्येनेदमुपास्य सोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति॥"

"हे श्रीनाम ! वाच्य अर्थात् विभुचैतन्यानन्दात्मक कृष्ण विग्रह और वाचक अर्थात् कृष्ण, गोविन्द वर्णात्मक तुम्हारे यह दो स्वरूप संसार में प्रकाशित हो रहे हैं। किन्तु मैं तुम्हारे वाच्य-स्वरूप की अपेक्षा वाचक-स्वरूप या नाम-स्वरूप को ही अधिक करुणामय समझता हूँ। कारण यह है कि जिस व्यक्ति का वाच्य या श्रीकृष्ण-स्वरूप विग्रह के प्रति यदि कोई अपराध हो जाता है, तो वह आपके वाचक स्वरूप का नामोच्चारण करने से अपराध से मुक्त हो जाता है और आनन्द

माधुरी और वेणुमाधुरी के समान ही कृष्णनाम की माधुरी का आस्वादन श्रीराधारानी ने पूर्वराग दशा में किया था। ललितादि सखीगणों के प्रति श्रीराधा की उक्ति—

"सजनि ! मरण मानिये बहु भागि,
कुलवती तिन-पुरुषे भेल आरति—
जीवन किए सुख लागि।
पहिले सुन लूँ हम 'श्याम' दुइ आँखर,
तेखनि मन चुरि केल।
ना जानिए को ऐछे मुरली आलापइ,
चमकइ श्रुति हरि नेल।
ना जानिए को ऐछे पटे दरशायलि,—
नव जलधर जिनि कांति।
चकित हइया हम जहाँ-जहाँ धावइ
ताँहा-ताँहा रोधये माति।
गोविन्ददास कहे शुन सुन्दरि,
अतए करह विशोयास।
या कर नाम मुरलीरव ता कर,—
पटे भेल सो परकाश॥"

श्रीनाम की पतितपावनी शक्ति की अभिव्यक्ति—महापातकी अजामिल मृत्यु के समय भयंकर यमदूतों को देख कर डर गया और रक्षा के लिए अपने प्रिय-पुत्र को बुलाया—'नारायण आओ !' भगवान् को नहीं, अपने पुत्र को जिसका नाम नारायण था, बुला रहा था। "अजामिल पुत्रे बोलाय बलि नारायण। विष्णुदूत आसि छाड़ाय ताहार बन्धन।" (चै०भा०)। श्रीभगवान् अन्तर्यामी हैं, निश्चय ही जानते थे, कि वह अपने पुत्र को बुला रहा था, फिर भी नाम



के अक्षरों की नामी से समानता है, कहकर यमदूतों ने बन्धन से छुड़ाकर अजामिल की रक्षा की। इस प्रकार पतितपावनत्व गुण नामस्वरूप को छोड़कर अन्य किसी स्वरूप में प्रकाशित नहीं है। केवल बन्धन ही मोचन नहीं हुआ, श्रीनाम ने विष्णु-दूतों को प्रेरणा दी—'अजामिल की आत्मा को इस समय वैकुण्ठ में मत लाओ। तुम्हारे मुख से श्रीनाम-महिमा सुने, इसके बाद प्रीतिपूर्वक नाम कीर्त्तन करे, उससे शीघ्र ही प्रेम पायेगो, तब इसके बाद उसे वैकुण्ठ में लाना। कारण यह है कि प्रेम के बिना मेरी सेवा प्राप्ति नहीं हो सकती।' धन्य है नाम की पतितपावनी कृपा।

इसी प्रकार भक्तवात्सल्य व करुणादि गुणों की अभिव्यक्ति भी है—राजर्षि भरत हिरण की चिन्ता करते-करते देहत्याग के पश्चात् हिरण होकर जन्मे। श्रीहरिनाम की करुणा से पूर्वजन्म की बात याद बनी रही, इसलिए पश्चात्ताप से दुःखी रहने लगे, कभी किसी हिरण के साथ मिलते-जुलते नहीं थे। जब वह हिरण देह त्यागने लगे उसी समय भक्तवत्सल करुणामय श्रीनाम उनकी जिह्वा पर स्वतः प्रकट हुआ। मनुष्य की जिह्वा में ही श्रीहरिनाम उच्चारण की योग्यता है, पशु की जिह्वा में नहीं। किन्तु स्वप्रकाश हरिनाम कृपा करके स्वयं ही प्रकट हुआ था। नाम की कृपा से हिरण देह त्यागने के बाद वे ब्रह्मर्षि होकर जन्मे। यह सब श्रीमद्भागवत का उपाख्यान है।

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—'नियमितः स्मरणे न कालः' 'हे भगवन् ! इस नाम के स्मरण अर्थात् श्रीनाम के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि भजनांगों में आपने देश काल आदि का कोई नियम नहीं रखा है। कोई भी व्यक्ति, किसी भी स्थान

पर, किसी भी अवस्था में आप का नाम कीर्त्तन कर सकता है। श्रील गोस्वामिपाद श्रीहरिभक्ति-विलास में श्रीविष्णु धर्मोत्तर और स्कन्द पुराण आदि का प्रमाण उद्धृत कर के नाम-कीर्त्तन आदि में कालादि का नियम नहीं यह प्रमाणित करते हैं—

"न देशनियमस्तस्मिन् न कालनियमस्तथा ।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्निलुब्धक ।।
न देशकालावस्थासु शुद्ध्यादिकमपेक्षते ।
किन्तु स्वतन्त्रमेवैतन्नाम कामित-कामदम् ।।"

अर्थात् "नाम-कीर्तन आदि के बारे में देश और काल का कोई-विचार नहीं है, जूठे मुख से या जूठे स्थान में भी नाम-भजन किया जा सकता है। नाम देश, काल, अवस्था और शुद्धि आदि की कोई अपेक्षा नहीं रखता है, सभी अवस्थाओं में नाम भजन सर्वाभीष्टप्रद है।" और भी कहा है—

"स्वपन् भुंजन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा ।
ये वदन्ति हरेर्नाम तेभ्यो नित्यं नमो नमः ।।"

"जो खाते, सोते, चलते, उठते, बैठते, बात करते हरि-नाम करते हैं, उन्हें बारम्बार नमस्कार।" शास्त्र और महद्-गणों ने मन्त्रजप, सेवा, अर्चनादि भजनांगों के अनुष्ठान के लिए जिस प्रकार स्नान, शुद्ध वस्त्र परिधान आदि की अपेक्षा की अपेक्षा कर रखी है, नाम स्मरण आदि के लिए इस प्रकार की शुद्धि अथवा अशुद्धि का कोई विचार नहीं देखा जाता है।

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—'एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः' हे भगवन्! तुम्हारी



श्रीनाम के द्वारा इस प्रकार की असाधारण करुणा प्रकाशित हुई है, किन्तु मेरा दुर्दैव भी इतना शक्तिशाली है कि तुम्हारे इस प्रकार के नाम में मेरा अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ। 'दुर्दैव' शब्द का अर्थ है मन्दभाग्य, दूरदृष्ट इत्यादि। नाम साधक का यह दुर्दैव या दूरदृष्ट और मन्दभाग्य क्या है? शास्त्र और महद्गणों की वाणी से यह जाना जाता है कि एक मात्र नामापराध को छोड़कर, नाम-साधक का ऐसा कोई भी दुर्दैव नहीं है, जो नाम की विशाल महिमा में बाधा उत्पन्न कर सके।

"एक कृष्णनामे करे सर्व्वपापनाश ।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश ।।
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार ।
स्वेद-कम्प-पुलकादि गद्गदाश्रुधार ।।
अनायासे भवक्षय कृष्णेर सेवन ।
एक कृष्णनामेर फले पाइ एत धन ।।
हेन कृष्णनाम यदि लय बहु बार ।
तबु यदि प्रेम नहे नहे अश्रुधार ।।
तबे जानि अपराध ताहाते प्रचुर ।
कृष्णनाम-बीज ताहे ना हय अंकुर ।।"

( चै० च० )

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि नाम की महिमा इतनी निरंकुश है तो फिर अपराध का विचार क्यों? अपराध यदि नाम की महिमा को बाधित कर सके तो फिर नाम की निरंकुशता कैसी और कहाँ रही। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कुहासा स्वप्रकाश सूर्य को नहीं ढँक सकता है, मात्र हमारी आँखों को ही ढँक सकता है। इसका

कारण यह है कि सूर्य हमसे करोड़ो योजन की दूरी पर विराजमान है और कुहासा पास में होने से हमारी आँखों को ही ढँकता है जिससे सूर्य की किरणें हमारे ऊपर नहीं पहुँच पाती हैं। इसी प्रकार की स्वप्रकाश महिमा को ढँकने की शक्ति किसी में भी नहीं है, किन्तु नामापराध हमारे चित्त को इस प्रकार आच्छादित कर लेता है कि स्वप्रकाश नाम की महिमा में बाधा उत्पन्न होती है फलस्वरूप वह हमारे चित्त के ऊपर स्वाभाविक रूप से नहीं आ पाती है। कुहासे के हटते ही जिस प्रकार सूर्य की किरणें हमारे ऊपर आने लगती हैं, उसी प्रकार अपराध हटते ही नाम का प्रभाव हमारे चित्त पर अनुभव होने लगता है। जिस प्रकार किसी राजा की किसी दरिद्र व्यक्ति को धन देकर धनवान् बनाने की क्षमता रखते हुए भी, राजा यदि किसी के ऊपर अप्रसन्न हो और उसे धन देने की इच्छा ही न करे तो यह तो नहीं कहा जा सकता है कि उसमें धन-दान करने की शक्ति ही नहीं है। उसी प्रकार नामापराधी व्यक्ति के ऊपर श्रीनाम की अप्रसन्नता के कारण किसी समय विशेष में प्रेमदान की सामर्थ्य होते हुए भी श्रीनाम नामापराधी व्यक्ति को वह प्रदान नहीं करता है, या प्रदान करने की इच्छा ही नहीं करता है। तभी तो साधक को निरपराध होकर नाम-साधना करनी चाहिए। इसी कारण से बहुत समय तक नाम भजन करते रहने पर भी अपराधी चित्त में प्रेम का उदय नहीं होता है। इसीलिए भक्तिशास्त्र बार-बार अपराधरूप दुर्दैव को रोकने के लिए साधकों को सतर्क करता है।

दुर्दैव या अपराध के मूल तत्त्व को ढूढ़ने पर पता चलता है कि प्रीति के विरोधी या प्रतियोगी द्वेष भावात्मक कार्य ही



समस्त अपराधों की जड़ है। यह द्वेषभाव अहंकार मूलक है और यह प्रीतियोग्य महापुरुषों और प्रीति के आश्रयभूत साधक के मध्य एक व्यवधान सेतु का निर्माण करता है, जिसके फलस्वरूप मानव अधम होकर भी अपने को उत्तम मानता है, अज्ञ होकर भी अपने को विज्ञ मानता है, अपने दोष व दूसरे के गुणों को नहीं देख पाता है; तभी तो वह आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करता रहता है। इस प्रकार परश्रीकातर सापराध व्यक्ति वैष्णव का उत्कर्ष देखकर उसे सहन नहीं कर पाता है, मात्सर्यपरायण होकर श्रीभगवान् के कारुण्यघन-विग्रह श्रीगुरुदेव को भी सामान्य मनुष्य मानता है एवं नाम-महिमादि सुनकर भी उसमें अपना विश्वास स्थापित नहीं कर पाता है, इस सब को वह मिथ्या समझता है। उसका मिथ्या भाषण, परहिंसा, परद्रव्यादि अपहरण इत्यादि पापजनक कार्यसमूह मात्सर्य रूप कपटता के अन्तराल में रहकर भयंकर अपराध की रचना करते हैं। पद्मपुराण में दस प्रकार के नामापराधों का उल्लेख देखा गया है, हम संक्षेप में इन की कुछ आलोचना करेंगे।

(१) साधु निन्दा—साधु निन्दा एक गुरुतर अपराध है, इसको महद् अपराध भी कहा जाता है। यहाँ पर भगवद्भक्त मात्र ही साधु शब्द का वाच्य है। जिन लोगों के द्वारा श्रीनाम की प्रसिद्धि विश्व में लाभ प्राप्त करती है, उनकी निन्दा श्रीनाम किस प्रकार सहन करेंगे? अनेक लोगों का विचार है कि कोई साधु यदि निन्दनीय कार्य करते हैं, तो उनकी समालोचना करने से कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि यह तो एक सत्य बात है। किन्तु श्रीमद्भागवत की टीका में श्रील श्रीधर

स्वामी लिखते हैं—"निन्दनं दोष कीर्त्तनम्" अर्थात् दोष कीर्त्तन करने से ही उसको निन्दा कहा जायेगा। उसमें सत्य और असत्य का कोई प्रश्न ही नहीं है। जिन साधु भक्तगणों की निन्दा से नामापराध या महद् अपराध होता है, वे साधु-कौन हैं? इस प्रकार का प्रश्न उठना अत्यन्त स्वाभाविक है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने अपने माधुर्य-कादम्बिनी ग्रन्थ में इसका उत्तर देते हुए लिखा है—जो कृपालु, किसी के भी द्रोही नहीं, सहनशील इत्यादि गुण सम्पन्न व्यक्तियों को ही शास्त्र साधु कहने का निर्देश कर रहे हो और उनकी निन्दा से ही अपराध होगा और जो इन गुणों से सम्पन्न नहीं हैं, उनकी निन्दा से कोई अपराध नहीं होगा, मात्र एक भ्रम है और असंगत भी है। वस्तुतः जो भगवद् भजन करते हैं वे यदि असदाचारी, शठबुद्धि, ठग भी हो; तो भी वे साधु ही माने जायेंगे, और उनकी निन्दा करने से भी अपराध होगा। इसका कारण श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है—

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥"

(९।३०)

"जो अनन्यभाव से भजनपरायण होकर मेरी उपासना करता है, वह यदि निरतिशय दुराचार विशिष्ट भी है, तब भी उसे साधु ही मानना होगा, कारण कि वह उत्तम भाव विशिष्ट है।" अर्थात् परमेश्वर भजन के द्वारा ही मैं कृतार्थ हो सकता हूँ, इस प्रकार जिसका अनन्यभाव है, वह यदि देवतान्तर की उपासना न कर के साक्षात् भाव से परमेश्वर का भजन करते हैं, वे दुराचारी होते हुए भी साधु है और उनकी निन्दा से भी अपराध होगा।



**(२) श्रीविष्णु और श्रीशिव को स्वतन्त्र मानना** :—जो व्यक्ति श्रीविष्णु से श्रीशिव के गुण-नामादि को पृथक् दर्शन या स्वतन्त्र मानते हैं, वे नामापराधी हैं। अर्थात् श्रीविष्णु एक स्वतन्त्र शक्तिसिद्ध ईश्वर और श्रीशिव भी एक स्वतन्त्र ईश्वरतत्त्व हैं, इस प्रकार विचार रखने से बहुईश्वरवाद का प्रतिपादन होता है, जिससे नामापराध होता है। श्रीशिव आदि श्रीकृष्ण के दास है, यही भक्त वैष्णवगणों का शिव-तत्त्व के चिन्तन का सिद्धान्त है।

**(३) गुरु-अवज्ञा** :—श्रीगुरु की अवज्ञा या उनमें मनुष्य बुद्धि करना अपराध है। श्रीगुरुदेव श्रीभगवान् का कारुण्यघन विग्रह ही हैं। तरल जल जिस प्रकार ठण्डा होकर बर्फ का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् की करुणा ही जीवोद्धार के संकल्प रूप ठण्डक की अधिकता से घनीभूत हो कर गुरुरूप से विश्व में अवतरित होती है। अच्छे शिष्य इस भाव से ही गुरुतत्त्व का चिन्तन और मनन करते हैं। इसलिए शिष्य को सदैव श्रीगुरुरूप चिन्मयतत्त्व की सद्गुणावली का ही चिन्तन करना चाहिए। श्रीगुरुदेव के दिव्य विग्रह के स्वभाव-जनित और औपाधिक दोष आदि के प्रति शिष्य को दृष्टिपात नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से श्रीगुरुदेव में मनुष्य या मर्त्यबुद्धि उत्पन्न होगी और श्रीनाम शिष्य के प्रति प्रसन्न नहीं होंगे और परिणामस्वरूप अपराध होगा।

**(४) श्रुति-शास्त्र की निन्दा** :—श्रुति शास्त्र अपौरुषेय हैं। "वेदयतीति वेदः" अर्थात् 'जो स्वयं अपने आप का ज्ञापक अथवा स्वप्रकास है उसी का नाम वेद है।' श्रीमद्भागवत आदि शास्त्र भी वेद के अनुगत होने के कारण स्वप्रकाश है।

इतिहास-पुराण आदि के द्वारा वेदों के अर्थ सुस्पष्ट होते हैं अथवा पूरित होते हैं, इसलिए उनमें भी वेदत्व हैं। इन सब शास्त्रों को निन्दा से नामापराध होता है।

ज्ञान और कर्मप्रतिपादक श्रुतियां भी करुणा परायण हैं। वे भक्ति के अनधिकारी कर्म-ज्ञान के संस्कार से ढंके मानवगणों को शास्त्रनिर्दिष्ट पथ पर चलाकर क्रमश: भक्ति-मन्दिर में लाने के लिये प्रयासशील हैं, इसलिए इन सभी श्रुति शास्त्रों की निन्दा से नामापराध निश्चित है।

(५) **नाम-महिमा के अर्थवाद का मनन** :—श्रीहरिनाम की जो समस्त अतुलनीय महिमा की बात शास्त्र और महद्-गणों की वाणी में देखी जाती है वह केवल स्तुति वाक्य मात्र ही है—इस प्रकार मन में विचार करना। वास्तव में श्रीनाम की जो सब महिमा शास्त्र और महद्गणों के द्वारा प्रकाशित होती है या गाई जाती है, वह श्रीनाम की अनन्त महिमासिन्धु का एक बिन्दुमात्र ही है। क्योंकि, श्रीनाम की महिमा अनन्त व अपार है, सहस्रवदन श्रीअनन्तदेव भी अपने सहस्त्रमुखों से उसका वर्णन करके पार नहीं पाते हैं,किसी दिन पावेंगे भी नहीं, उस श्रीनाम को कुछ थोड़ा-बहुत महिमायुक्त शास्त्र वाक्य के रूपमें अर्थवाद मात्र(अर्थात् नामकी इस प्रकार की महिमा नहीं है, फिर भी लोगों में नाम के प्रति श्रद्धा व प्रीति उत्पन्न करने के लिये इसका कीर्त्तन करते हैं) मन में विचार करना किस प्रकार अपराधजनक है, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। यह वैष्णवता का विघातक अपराध है। नाम स्वत: ही स्वतन्त्र स्वप्रकाश तत्त्व है, नाम की महिमा प्रकटन करने के विषय विधि की कोई अपेक्षा नहीं है। इसलिए नाम-महिमा में अर्थवाद का कोई प्रश्न ही नहीं उठ पाता है।



**प्रकारान्तर में श्रीहरिनाम की अर्थकल्पना** :— श्रीमद्-भागवत आदि शास्त्रों में नाम-महिमा सूचक जो सब वाणी है, श्रीनाम के उसी माहात्म्य के गौणत्व प्रतिपादन करने के निमित्त अन्य प्रकार की अर्थकल्पना। यह भी वैष्णवता का विघातक एक गुरुतर अपराध है। इसलिए जो मानव बुद्धि से परे है, उसका अस्तित्व स्वीकार न करना था उस विषय में तर्क-वितर्क करना—इस प्रकार की नास्तिकता ठीक नहीं है। जब हमारी बुद्धि अप्राकृत हो जायेगी अर्थात् प्राकृत गुणों से अतीत हो जायेगी, तब वह अप्राकृत चिन्मय वस्तु का तत्त्व ग्रहण करने में समर्थ होगी। हम इस जगत में मणि, मन्त्र, महौषधि की जिस विलक्षण शक्ति का अनुभव करते हैं, किस प्रकार इन सब में यह शक्ति उत्पन्न हुई, हम विचार या तर्क के द्वारा इसका निर्णय नहीं कर सकते हैं। जब प्राकृत वस्तुओं की शक्ति ही हमारी बुद्धि से परे हैं, अर्थात् हमारी समझ से बाहर है, तब अप्राकृत हरिनाम की महिमा किस प्रकार हमारी समझ में आयेगी अर्थात् हम उसका अनुभव कैसे करेंगे। इस-लिए अचिन्त्य वस्तु के बारे में तर्क नहीं किया जा सकता है। जो वस्तु प्रकृति से अतीत् है, वही अचिन्त्य या चिन्मय है।

"अचिन्त्या: खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्य: परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥"

(७) **नामोच्चारण से पापाचरण में प्रवृत्ति** :— शास्त्र द्वारा यह देखा जाता है कि—श्रीहरिनाम का उच्चारण ही समस्त पापों को नष्ट करता है. समस्त पाप प्रज्वलित अग्नि में रुई के समान भस्म हो जाते हैं। नाम के बल से पाप समूह नष्ट हो जाते हैं; यह समझकर यदि कोई नामसाधक पाप

कार्य करता है, तो वह भयंकर अपराधजनक सिद्ध होगा। जो नाम अनायास ही परमपुरुषार्थ प्रेमसाधन द्वारा साधक को भगवद् सेवानन्द प्राप्त कराकर धन्य या कृतार्थ करता है, उसी नाम के बल से घृणास्पद पाप कार्य में मति होने से चरम दौरात्म्य ही प्रकाशित होता है। इससे श्रीनाम को निम्न स्तर पर ले जाने वाले अनुष्ठित पाप भी कोटि-कोटि गुना अधिक अपराधजनक हो जाते हैं। इसके प्रायश्चित रूप में यम-नियमादि के अनुष्ठान करने पर भी या दण्डदाता यमराज प्रदत्त यम-यातना का भोग करने पर भी वह अपराधमुक्त नहीं हो पाता है।

**(८) अन्य शुभक्रियाओं के साथ श्रीहरिनाम की समता का मनन या चिन्तन** :--धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि शुभ कर्मों के फल के साथ श्रीहरिनाम के कीर्त्तन के फल को बराबर मानने से एक भयावह अपराध होता है। यह श्रीहरिनाम के सम्बन्ध में एक प्रमाद है, अर्थात् श्रीहरिनाम के माहात्म्य को कम करने से यह एक अपराध माना जायेगा।

**(९) श्रद्धाहीन व्यक्ति को नामोदेश** :—जो व्यक्ति नाम सुनने व करने के प्रति कोई श्रद्धा नहीं रखता है, उसको नामोपदेश करने से अपराध होगा। इसमें उपदेशक का अपराध होता है। अर्थात् यह अवज्ञादि रूप अपराध उपदेशक को ही प्रभावित करेगा।

**(१०) नाम माहात्म्य सुनने के बाद भी नाम में अप्रीति** :—इस वाक्य द्वारा उपदेश ग्रहण करने वाले व्यक्तिकी बात कही गई है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार का व्यक्ति "मैं और मेरा" के अभिमान में श्रीनाम में प्रीतियुक्त न



होकर विषय भोग में प्रमत्त होकर नाम के प्रति अनादर प्रकट करने से अपराधी हो जाता है। नाम का मुख्यफल श्रीभगवान् के चरणों में प्रीति लाभ करना है। पापक्षय व संसारमुक्ति आदि तो गौणफल है। श्रीनाम केवल अपराध का ही विचार करते हैं, इसलिए—अपराधरहित होकर निरन्तर नाम ग्रहण करने से पूर्वसंचित नामापराध या दुर्देव से मुक्त होकर साधक प्रेमलाभ करके धन्य हो जाता है। नामापराध के नष्ट होने के विषय में पद्मपुराण का उपदेश इस प्रकार है—

"नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
अविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवार्थं कराणि हि ॥"

अर्थात् "नामापराध युक्त व्यक्ति की अपराधराशि नाम के द्वारा ही दूर होती है। निरन्तर नामग्रहण के फलस्वरूप नामापराध क्षय होते हैं।" ज्ञानपूर्व यदि कोई महद्-अपराध हो जाये, तो उस महत्पुरुष के चरणों में प्रार्थना करके उसे प्रसन्न करने से वह महद् अपराध दूर हो जाता है। यदि कोई मन में विचार करे कि निरन्तर नाम कीर्त्तन से ही जब सभी अपराध नष्ट होते हैं, तो उस महद्पुरुष के समक्ष इतना निम्न-स्तर का होकर क्षमा-चाहने की आवश्यकता ही क्या है? ऐसा विचार करनेसे निरन्तर नाम कीर्त्तन से भी वह महद् अपराध क्षय नहीं होगा, अपितु अपराध और भी अधिक भयावह हो जायेगा। इसी प्रकार शास्त्रमें जो सब सेवापराध वर्णित है अनजाने में होने वाले वे सब सेवापराध निरन्तर नाम कीर्त्तन से नष्ट हो जाते है। किन्तु यदि कोई यह विचार करे कि सेवापराध तो निरन्तर नाम कीर्त्तन से नष्ट ही होते हैं, अतः मुझे सतर्क रहने की क्या आवश्यकता है, जो सेवापराध हो

रहा है, होने दो तो वह सेवापराध न होकर श्रीनाम के बल से पापाचरण में प्रवृत्त होने का भयंकर नामापराध हो जाता है। इसे छोड़कर जाने-अनजाने सभी अपराध पश्चात्ताप सहित निरन्तर नाम-कीर्त्तन से नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि "भक्तिदेवी का आश्रय लेने से ही मेरे अपराधादि निश्चित रूप से क्षय होंगे और नामकीर्त्तन के फलस्वरूप मुझे भक्ति लाभ होगी।" इस प्रकार दृढ़ विश्वास पूर्वक श्रद्धा, आदर व अनुताप के साथ श्रीहरिनाम की आवृत्ति को 'श्रद्धावृत्ति' कहा जाता है। अपराध के विनाश के लिए श्रद्धावृत्ति की नितान्त आवश्यकता है। जिसके हृदय में अपराध विनाश हेतु आग्रह व पश्चात्ताप का जन्म होता है, वही श्रद्धावृत्ति के वास्तविक अधिकारी हैं। जिसको कभी पश्चात्ताप ही नहीं होता, उसका अपराध किस प्रकार क्षय होगा ? अपराध के क्षय होने के निमित्त, पश्चात्ताप एवं अपराध क्षय नहीं हो रहे हैं कह कर, दुःख के साथ श्रीनाम के शरणापन्न होकर निरन्तर (अनुक्षण) नाम कीर्त्तन करने से नाम प्रसन्न होकर यथा समय अपराध को क्षय करके प्रेम दान करके धन्य कर देता है।

श्रीमन्महाप्रभु, नामप्रेम की साक्षात् मूर्ति होते हुए भी स्वयं यह कहकर कि उनका नाम में कोई अनुराग नहीं है, विश्व-साधकगणों को अनुरागमय नाम भजन-जीवन यापन के लिए प्रेरित किये थे। साधक का नाम भजन अनुरागमय होना ही चाहिए। श्रीनाम में नामी श्रीकृष्ण के रूप, गुण, माधुर्य आदि का अखण्ड आस्वादन विराजमान है। किन्तु मुझ-जैसा नामापराधी जीव उसका कुछ भी आस्वादन अनुभव नहीं कर



पाता, इसलिए नामभजन अनुरागमय या उत्कण्ठामय नहीं हो पाता। मशीन की तरह मुख से नाम की आवृत्ति होती रहती है और विषय वासना में फँसा हुआ दुष्ट मन स्वच्छन्द व अबाध रूप से विषयों के जंगल में घूमता रहता है। कभी पाप कार्यों आदि की चिन्ता करते हुए भी संशय नहीं करता है। परिणामस्वरूप हाथ में माला की झोली मुख से संख्या कीर्त्तन के साथ-साथ देश-विदेश की बातें, विषय और विषयों की आलोचना, यहाँ तक कि परनिन्दा और परचर्या आदि भी अबाध रूप से चलते रहते हैं। फलतः "भक्तिपथे पड़ये विगति।" सुगति न होने से विगति या दुर्दैव ही सार हो जाता है। साधक पहिले से ही नामरस के आस्वादन की ओर लक्ष्य रख कर साधुसंग व निरपराध रूप से नाम कीर्त्तन द्वारा नाम की कृपा से अनायास हो अनुरागमय भजन जीवन लाभ करके धन्य हो जाता है। महाप्रभु ने स्वयं ही इस श्लोक की संक्षिप्त व्याख्या प्रकाशित की—

"अनेक लोकेर वाञ्छा अनेक प्रकार।
कृपाते करिल अनेक नामेर प्रचार॥
खाइते शुइते यथा तथा नाम लय।
देश काल नियम नाहि, सर्वसिद्धि हय॥
सर्व्वशक्ति नामे दिला करिया विभाग।
आमार दुर्द्दैव, नामे नाहि अनुराग॥" ॥२॥

(चै० च०)

**तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।**
**अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥३॥**

कलिपावनावतार श्रीमन्महाप्रभु शिक्षाष्टक के इस तृतीय श्लोक को प्रकाशित करने के पहिले श्रीस्वरूप दामोदर और रामानन्दराय से बोले—

"येरूपे लइले नाम प्रेम उपजाय।
ताहार लक्षण शुन स्वरूप-रामराय॥"

( चै० च० )

"तृण से नीचा होकर, वृक्ष के समान सहिष्णु होकर, स्वयं अमानी होकर दूसरों को सम्मान देते हुए सदैव हरि-कीर्त्तन करना चाहिए।" श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने श्रीचैतन्यचरितामृत अन्त लीला के अन्तिम अध्याय में इस श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा—

"ऊर्ध्व बाहु करि कहि शुन सर्व्वलोक।
नामसूत्रे गाँथि पर कण्ठे एइ श्लोक॥"

बहुत दूर पर्यन्त उपस्थित विशाल जनसमूह को लक्ष्य करके कुछ बोलने के लिए साधारणतः वक्ता ऊपर की ओर दोनों भुजायें उठाकर ऊँचे स्वर में अपनी बात कहता है। उठी हुई भुजाओं को देखकर सब का मनोयोग आकर्षित होता है और सभी लोग उसकी बात को ध्यान पूर्वक सुनते हैं। उसी प्रकार सभी साधकगणों को लक्ष्य करके कहा है कि नाम सूत्र में इस श्लोक की माला बनाकर गले में पहिनना होगा। ऐसा न करने से नाम कीर्त्तन का फल आसानी से प्राप्त नहीं होगा।

तात्पर्य यह है कि पूर्वश्लोक की व्याख्या में कहा गया है कि अपराध को छोड़कर नाम की अबाध शक्ति को विफल करने की सामर्थ्य अन्य किसी भी अनर्थ में नहीं है। श्रीमन्म-



हाप्रभु ने उसी दुर्दैव या नामापराध की बात करते हुए इस श्लोक का पाठ कर के विश्व मानव को शिक्षा दी कि श्रीहरिनाम के फललाभ की एकमात्र बाधा नामापराध से रक्षा पाने का उपाय है—अत्यन्त दीनता पूर्वक हरिनाम-कीर्त्तन।

श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामिपाद की शिक्षा के प्रसंग में वैष्णव निन्दादि अपराध की मत्त हाथी के साथ तुलना की है। अत्यन्त कोमल भक्ति कल्पलता को यह मत्त हाथी जड़ समेत उखाड़ कर नष्ट कर देता है। इसलिए दैन्य की बाड़ लगा कर इस भक्तिलता की रक्षा करना है। इसको छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है।

"यदि वैष्णव-अपराध उठे हाथी-माता।
उपाड़े वा छिण्डे, तार शुकि जाय पाता॥
ताते माली यत्न करि करे आवरण।
अपराध हस्ती जैछे ना हय उद्गम॥"

( चै० च० )

"दीनता-मानदत्तादि शिलावलृप्त-महावृतिः।
भक्तिकल्पनृभिः पाल्या श्रवणाद्याम्बु-सेचनैः॥"

"दैन्य एवं अन्य को सम्मान-प्रदान रूप सुदृढ़ पत्थर की दीवाल के आवरण से भक्ति कल्पलता को ढँक कर रखना होगा, ताकि वैष्णव अपराध रूप मत्त हाथी उसे देख न सके।"

'दैन्य' कहने से दीनता को ही समझा जाना चाहिए। स्वयं अत्यन्त अयोग्य और असमर्थ होने का बोध ही प्रकृत

दैन्य है। श्रीमद् सनातन गोस्वातिपाद ने दैन्य के लक्षण निरूपण के प्रसंग में लिखा है—

"येनासाधारणाशक्ताधमबुद्धिः सदात्मनि ।
सर्वोत्कर्षाण्वितेऽपि स्यादवुधैस्तद्दैन्यमिष्यते ॥
यया वाचेहया दैन्यं मत्या च स्थैर्यमेति तत् ।
तां यत्नेन भजेद्विद्वांस्तद्विरुद्धानि वर्ज्जयेत् ॥"

(बृ०भा०-२।५।२२२-२२३)

अर्थात् "जिस भाव का चित्त में उदय होते ही सर्वगुण-सम्पन्न व्यक्ति भी स्वयं को असाधारण असमर्थ और अधम बुद्धि वाला समझने लगता है. विद्वान् उसी को "दैन्य" कहते हैं। इसलिए जिस प्रकार यह दैन्य चित्त में स्थिरता प्राप्त करे बुद्धिमान् साधक वाक्य, चेष्टा और बुद्धि द्वारा उसी के अनुरूप आचरण करें, और उसके विरुद्ध आचरण को सर्वतोभावेन वर्जन करें।

'जिसके द्वारा सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति भी स्वयं को अधम और अपकृष्ट समझता है'—इस वाक्य से समझा जाता है कि यह दैन्य साधारण दैन्य नही है। यह परम सत्य आत्मतत्त्व ज्ञानोद्भासित शरणागत साधक की स्वरूप आविर्भाव की स्वाभाविक अवस्था है। भाग्यशाली साधक सद्गुरु की कृपा से भगवद्-पादपद्म के शरणागत होकर जब भजन पथ पर अग्रसर होने लगता है, तब जितना ही उसका भगवद्-दासाभिमान जाग्रत होता है, उतना ही धीरे-धीरे उसका मायिक देह का अभिमानरूप अन्धकार दूर होता जाता है, और सर्वत्र ही भगवान् के कर्त्तृत्व की अनुभूति आने लगती है। अन्त में श्रीभगवान् के कर्त्तृत्व सिन्धु में अपना समस्त मायिक कर्त्तृत्व



विसर्जन करके भगवच्चरणों में पूर्ण शरणागत भक्त साधक जीवन्मुक्त दशा लाभ करता है। देहधारण पर्यन्त सांसारिक लोगों के साथ आलाप और आदान-प्रदानके समय व्यवहारिक कार्यों में अपने कर्त्तत्व के लेशमात्र उदय होने से भी वह अत्यन्त विचलित हो जाता है। तब उसके हृदय में यही दैन्य शीघ्र ही उच्छलित होकर इस कर्त्तृत्वाभिमान दूर भगा देता है। यही प्रकृत भक्त के दैन्य का स्वरूप है। यही भक्त की मूल्यवान् साधन-सम्पद् है। इसीलिए श्रीमद् सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है–प्रेम एवं दैन्य भिन्न वस्तु नहीं हैं, दोनों ही दोनों का कार्य एव कारण हैं।

भक्त साधक के नाम-साधना काल में यह दैन्य ही वैष्णवनिन्दा आदि भक्तिके विघातक और प्रतिकूल-अपराधों को दूर हटाकर साधक के प्रति नाम की प्रसन्नता को आकर्षित करता है। जिस प्रकार हमारी आँख अत्यन्त कोमल इन्द्रिय हैं। और सभी ज्ञानेन्द्रियों में श्रेष्ठ भी है। किसी प्रतिकूल परिस्थिति से आँख की रक्षा के लिए श्रीभगवान् ने पलकों को बनाया और यह पलक हर क्षण आँख की रक्षा करते हैं। दैवयोग से अगर कभी कोई धूल कण आदि आँख में गिर जाये तो आँख में उपस्थित सूक्ष्म स्नायु तुरन्त जल छोड़ कर आँख को जल से भर देते हैं, जिससे वह धूल कण जल के साथ बहकर आँख से बाहर निकल जाते हैं और आँख पहिले जैसी स्वच्छ और निर्मल हो जाती है। इसी प्रकार साधक का दैन्य भक्ति के प्रबल अवरोधक नामापराध को बाहर करके चित्त को निरपराध बनाये रखता है। इस तृणादपि सुनीचेन श्लोक का पाठ करके महाप्रभु ने विश्व के नाम साधकों को चरम

दैन्य-साधना की ओर संकेत किया है। दैन्य ही नाम साधकों की नाम साधना का प्राण है। दैन्य के बिना नाम-भजन प्राण हीन है। अतएव महाप्रभु की इस महावाणी से नाम साधकगणों को विशेष भाव से परिचित होना चाहिए।

प्रभु ने कहा—**'तृणादपि सुनीचेन'** साधक को तृण से भी निम्नस्तरीय होना चाहिए। तृण अत्यन्त तुच्छ और निम्न पदार्थ हैं, किन्तु वह भी गाय आदि पशुओं के चारे के रूप में प्रयुक्त होकर उनकी सेवा करता है। गाय जो दूध देती है वह भगवत् सेवा में लगता है। गृह व भगवद् मन्दिर के निर्माण कार्य में भी तृण विशेष योगदान पूर्वक सेवा करता है। किन्तु मेरे द्वारा किसी की किसी प्रकार की सेवा की सम्भावना नहीं है। इन सब बातों की चिन्ता करते हुए साधक स्वय को तृण से भी निम्नस्तरीय समझेगा। तृण के ऊपर किसी का पैर पड़ने से वह थोड़ा दब कर फिर ऊपर उठने का प्रयास करता है किन्तु साधक को यदि कोई पर म दबाये तो उसे किंचित भी ऊपर उठने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यह दैन्य भाव निश्चित रूप से साधक के अन्तर में अनुभव होना चाहिए। जब तक वे मन-प्राण से स्वय को तृण की अपेक्षा अधम या नीच नहीं मानेंगे तब तक केवल मुंह द्वारा दैन्य की आवृत्ति से 'तृणादपि सुनीच' का भाव सिद्ध नहीं होगा। मन का दैन्य ही प्रकृत दैन्य है। मन में अभिमान व अहकार बने रहने से और वाक्य द्वारा दीनता का अभिनय करने से इसे केवल कपटता ही कहा जायेगा। इस प्रकार के कपट-दैन्य से किसी का हृदय शुद्ध नहीं होता है।

फिर **'तरोरिव सहिष्णुना'**—साधक को वृक्ष के समान सहनशील होना चाहिए। वृक्ष को यदि कोई काटे तो भी वृक्ष



कुछ नहीं बोलता है और चुपचाप सब कुछ सहन करता रहता है। काटने वाले शत्रु के विरोध का तो प्रश्न ही नहीं है, वह उस समय भी उसको फल व छाया आदि देकर सेवा ही करता है। "छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः।" सहिष्णुता का यह एक चरम दृष्टान्त है। श्रीमद्भागवत में वर्णित अवन्तीपुर निवासी भिक्षुक ब्राह्मण का चरित्र और यवनगणों द्वारा ठाकुर श्रीहरिदास को बाईस बाजारों में पीटने में इसी प्रकार की सहिष्णुता की पराकाष्ठा देखी जाती है। यवनगण जिस समय बाईस बाजारों में श्रीहरिदास के ऊपर प्राणलेवा प्रहार कर रहे थे, उस समय भी वे अपने इष्ट से उनके कल्याण के लिए प्रार्थना कर रहे थे।

"ए सब जीवेर कृष्ण करह प्रसाद।
मोर द्रोहे नहुँ ए सभार अपराध॥"
(चै० च०)

वृक्ष जल से सींचने के अभाव के कारण सूख कर मर जाता है लेकिन किसी से फिर भी जल नहीं चाहता है, वरन् सबको फल, लकड़ी, पत्ते, रस, फूल आदि देकर सेवा ही करता है। गर्मी के दिनों में सूर्य का ताप, वर्षाऋतु में भीषण जल वृष्टि और शीत का प्रकोप वृक्ष यह सब अकातर भाव से सहन करता है। इसी प्रकार दैन्यभावापन्न साधक को सहनशील होने का अभ्यास करना चाहिए। दूसरे व्यक्ति द्वारा दण्डित, उत्पीड़ित व लाञ्छित होने पर भी उसकी सेवा ही करनी चाहिए। किसी से रुष्ट न होकर, किसी से कुछ प्रार्थना भी नहीं करनी चाहिए, वरन् सामर्थ्यानुसार धन आदि देकर दूसरे की सेवा ही करनी चाहिए। सभी का सब प्रकार का उत्पीड़न अकातर भाव से सहन करना चाहिए।

'**अमानिना मानदेन**' नाम साधक को स्वयं किसी से सम्मान की इच्छा नहीं रखना चाहिए। सदैव निरभिमान रहते हुए वैष्णवगणों की तो बात ही दूर है, समस्त जीवों में अपने इष्टदेव का अधिष्ठान समझकर समस्त प्राणियों को सर्वदा सम्मान देना चाहिए। इस संसार में उसकी अवमानना का कोई भी पात्र नहीं है।

"अन्तर्देहेषु भूतानामात्मास्ते हरिरीश्वरः।
सर्व्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेव वस्तोषितो ह्यसौ॥"
(भागवत)

प्रत्येक प्राणी के अन्दर परमात्मा से भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं, इसलिए प्रत्येक जीव ही श्रीभगवान् के श्रीमन्दिर के समान है। इसलिए भक्त के लिए सम्माननीय है। मन्दिर टूटा हुआ हो, विकृत हो, असंस्कृत हो, अपरिच्छन्न होते हुए भी जिस प्रकार भक्त के द्वारा सम्माननीय है, उसी प्रकार लौकिक दृष्टि से कोई भी प्राणी नीच, अवहेलित होते हुए भी भक्त के लिए सदैव नमस्कार योग्य है। इसीलिए "प्रणमेद्दण्ड-वद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्" (भा०-११।२९।१६) अर्थात् 'सब के अन्दर अन्तर्यामी रूप से ईश्वर हैं, जानते हुए चाण्डाल, कुत्ता, गाय, गधा पर्यन्त सबको दण्डवत् होकर प्रणाम करना चाहिए।' "ब्राह्मणादि चण्डाल कुक्कुर अन्त करि। दण्डवत् करिबेक बहुमान्य धरि॥" (चै० भा०) इस रूप में दैन्यभावापन्न साधक को सदा हरिकीर्त्तन करना चाहिए। निरपराध होकर सर्वदा कीर्त्तन से पूर्व पूर्व जन्म और इस जन्म के भी समस्त संचित अपराध आदि विनष्ट होकर साधक श्रीनाम-प्रेम लाभ करके अनायास ही धन्य हो जायेंगे—'कीर्त्तनीयः सदा हरिः।'



कोई कोई व्यक्ति कहते हैं—"वैष्णव हैते बड़ मने छिल साध। तृणादपि श्लोकेतेइ पड़ि गेल बाधा।" तृण के समान निम्नस्तरीय और वृक्ष के समान सहनशील होना क्या साधारण साधक के पक्ष में सम्भव हो सकता है? तथापि महाप्रभु नाम में प्रेम प्राप्ति के साधन रूप में इस श्लोक का उल्लेख किया। इस प्रकार सहज सुखसाध्य नाम साधन के बीच में भी तो महाप्रभु ने एक जटिल समस्या पैदा कर दी।

साधारण व्यक्ति के पक्ष में आपातदृष्टि से यह सत्य प्रतीत होता है, किन्तु अच्छी प्रकार विचार करने से यह समझा जा सकता है कि भक्तिमार्ग में साधक का जो साधन-रूप पुरष्कार है वह एकमात्र कृपा से ही सफल होता है। नाम साधक यदि निरपराध नाम ग्रहण करने के लिए श्रीनाम का आश्रय ग्रहण करे तो श्रीनाम की कृपा से ही उसमें सब प्रकार की योग्यता का प्रकाश होगा। तृणादपि श्लोक याजन की सामर्थ्य भी साधक श्रीनाम की करुणा से अनायास ही लाभ कर सकेंगे। उसके साथ यदि श्रीगुरु-वैष्णव की करुणा का योग हो गया तो फिर कहना ही क्या है।

इस विषय में मैंने अपने श्रीश्रीगुरु से एक सत्य घटना जो वृज में ही घटी, सुनी थी। यहाँ पर उसका उल्लेख करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। प्राचीन काल में एक उच्च शिक्षा प्राप्त बंगाली सज्जन कर्मजीवन के समय में वृज-वास की आकांक्षा लेकर वृन्दावन आये थे। वे किसी सद्गुरु से शिक्षा-दीक्षा और तदुपरान्त भजन करने के उद्देश्य से एक प्रसिद्ध भजनानन्दी महत्पुरुष के पास प्रायः आया जाया करते थे। वे महत्पुरुष उनके साथ आलाप व आलोचना करने से

यह समझ गये थे कि उनके अन्दर अपनी उच्च शिक्षा का बहुत घमण्ड है। वे उन महत्पुरुष के पास अक्सर अपनी शिक्षा-दीक्षा की बात करते किन्तु वह महात्मा उनकी बात पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते थे। एक दिन बहुत अधीर होकर उन्होंने दीक्षा लेने के लिए महद् पुरुष के पास बहुत रोना-धोना किया तो वे महा पुरुष बोले—"तुम को सात दिन का समय मुझे देना होगा, इन सात दिनों के अन्दर तुम्हें अपने से सब प्रकार से निकृष्ट (निम्नस्तरीय) व्यक्ति या वस्तु को लेकर मेरे पास आना होगा तभी तुम्हारी दीक्षा होगी। लेकिन ध्यान रहे कि जिस वस्तु या व्यक्ति को लेकर आओ वह तुम से हर क्षेत्र में निकृष्ट होनी चाहिए।"

पहिले तो उन सज्जन ने सोचा कि यह तो कोई कठिन कार्य ही नहीं है, क्योंकि संसार लगभग सभी व्यक्ति व वस्तुयें उनसे निकृष्ट या तुच्छ ही हैं। किसी एक को साथ लेते आयंगे और समझो कि शिक्षा-दीक्षा का कार्य हो गया। किन्तु उन महद् पुरुष ने उन्हें केवल आदेश ही किया हो, ऐसा नहीं था, आदेश के साथ-साथ थोड़ी कृपा भी की। उच्च शिक्षित सज्जन जब सोचने लगे—कि उनसे सभी प्रकार से निकृष्ट कौन है, तब उन महद् पुरुष की कृपा से उन्हें अपने दोष व दूसरों के गुण आंखों के सामने दिखाई पड़ने लगे। विधाता की सृष्टि की यह विशेषता है कि सर्वत्र गुण एवं दोष का मिश्रण विद्यमान है। वे बहुत सोच विचार करने पर भी मानव जगत में अपने से सब प्रकार निकृष्ट व्यक्ति को नहीं खोज पाये। तब पशु-जगत व पक्षि-जगत में अपने से सब प्रकार तुच्छ किसी जीव को मन ही मन खोज करने लगे, किन्तु उसमें भी किसी को नहीं पाये, क्योंकि पशुओं व पक्षियों में ऐसे गुण व ऐसी शक्ति विद्यमान है



जो मनुष्य में नहीं है। बाद में जड़ जगत में वृक्षों और लताओं में खोज करने लगे, किन्तु उसमें तो पाने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि महाप्रभु ने वैष्णव को वृक्ष के समान सहनशील होने को कहा है। इस प्रकार सब स्थानों वस्तुओं व जीवों में खोजते-खोजते छ: दिन व्यतीत हो गये। केवल एक दिन बाकी रहा। उन्हें अगले ही दिन महात्मा के पास किसी वस्तु या व्यक्ति को लेकर जाना था अन्यथा दीक्षा नहीं हो सकेगी। सातवें दिन वे सज्जन मैदान में शौच-क्रिया के लिए गये। मन खूब अस्थिर था क्योंकि वही उनकी दीक्षा का दिन था। मल-त्याग करते हुए परेशान हो सोचने लगे, यह मल ही उनसे सब प्रकार से तुच्छ है, इसलिए यही बात उन महात्मा से कहेंगे। आज सातवें दिन उनके विचार, महद्कृपा से अपने दोष व अन्य के गुण देखते समझते इतने सूक्ष्म हो गये थे कि मल का पक्ष लेकर उनकी भावना जैसे उनसे कहने लगी—'भाई! तुम जिसे अपने से सब प्रकार निकृष्ट समझ रहे हो, वह तुम्हारे सम्पर्क में आने से पहिले देवता का नैवेद्य था। तुम्हारी प्राण रक्षा व देह पुष्टि के लिए वह अपने को मिटाकर इस घृणित वस्तु में परिवर्तित हो गया। इसलिए जो स्वयं के हित के लिए एक अच्छी वस्तु को खराब कर दें, वह निकृष्ट न होकर, जो अच्छी वस्तु होकर दूसरे की प्राण रक्षा के लिए स्वयं को मिटा-कर खराब कर ले, वह किस प्रकार निकृष्ट हो सकती है?

यह बात सोचते ही वे चमक उठे। मन ही मन बोले, ना ना, यह तो मुझ से कई गुना श्रेष्ठ है। इसी अवसर पर एक मलकीट उसी तरफ आ रहा था, तब उन्होंने विचार किया—इस बार काम बन गया, यह मल-कीट ही मुझ से सब प्रकार से निकृष्ट है। तब उनकी भावना कीट के पक्ष में होकर

बोली भाई ! तुमने देवता के नैवेद्य को मल में परिवर्तित कर दिया है और तुम अब इसे दुबारा पवित्र नहीं कर सकते, किन्तु यह यदि मलके अन्दर कुछ समय वास करे तो इसे मिट्टीके साथ मिलाकर पवित्र कर देगा, यह गुणतुम्हारे अन्दर नहीं है। इस विषय में तुम इससे निकृष्ट हुए।

इस स्थान पर एक बात कहने से अच्छा रहेगा, श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने एक विश्व-वन्दनीय महात्मा होते हुए भी श्रीनिताई चाँद की कृपा का उल्लेख करते हुए लिखा—

"जगाइ-माधाइ हैते मुञि से पापिष्ठ ।
पुरीषेर कीट हैते मुञि से लघिष्ट ।।
मोर नाम शुने येइ, तार पुण्य क्षय ।
मोर नाम लय येइ, तार पाप हय ।।
एमन निर्घृण मोरे, केवा कृपा करे ।
एक नित्यानन्द विनु जगत भितरे ।।"

( चै० च० )

इतने बड़े विश्व-वन्दनीय महात्मा के अनुभव में यह भाव किस प्रकार आ सकता है, कि वे मलकीट से भी छोटे, तुच्छ या निकृष्ट हैं ? और यदि केवल मुख से कही हुई बात ही है, अन्तर में अनुभव किया हुआ दैन्य नहीं है, तब तो क्या यह कपटता में ही पर्यवसित होगा ? कहने का तात्पर्य यह है कि यह भाव महद्पुरुषों या महद् कृपा प्राप्त भाग्यवान् पुरुषों के अनुभव में ही आ सकता है, अन्य किसी के पक्ष में यह सम्भव नहीं है।

जो भी हो, वे बंगाली शिक्षित सज्जन स्नान आदि समापन करके उन महात्मा के पास पहुँचे। महात्मा ने प्रश्न



किया—क्यों, क्या आप अपने से सब प्रकार निकृष्ट किसी व्यक्ति या वस्तु को साथ ले आये हैं ? तब वे साष्टांग प्रणाम करते हुए बोले—प्रभु। आप की कृपा से आज सात दिन से विचार करते हुए जो देखा, उससे यह समझा कि इस जगत में यदि कोई निकृष्टतम वस्तु या व्यक्ति है—तो वह मैं ही हूँ। मुझ से अधिक निकृष्ट वस्तु या व्यक्ति इस विश्व में कोई अन्य नहीं है। तब उसी क्षण उन महात्मा ने हँसते हुए उन्हें आलिगन किया और बोले—'अभिमान आदि को त्यागकर मैंने जिसे संग लाने के लिए कहा था, आप तो उसी दीनभावापन्न स्वयं को साथ में ले आये हैं। इसलिए अब आप की दीक्षा में कोई बाधा नहीं है।' महत्कृपा प्राप्त करके वे भाग्यवान् सज्जन अनायास ही अनुरागमय भजन जीवन को प्राप्त करके धन्य हो गये। श्रीमन्महाप्रभु ने स्वयं इस श्लोक की चमत्कारपूर्ण व्याख्या अपने श्रीमुख से प्रकाशित की है।

"उत्तम हैञा आपनाके माने तृणाधम ।
दुइ प्रकारे सहिष्णुता करे वृक्षसम ।।
वृक्ष येन काटिलेह किछु न बोलय ।
शुखाइया मैले कारे पानी ना मागय ।।
येइ ये मागये तारे देय आपन धन ।
घर्म्म-वृष्टि सहे, आनेर करये रक्षण ।।
उत्तम हैञा वैष्णव हवे निरभिमान ।
जीवे सम्मान दिबे जानि कृष्ण अधिष्ठान ।।
एइमत हैञा येइ कृष्ण नाम लय ।
कृष्णेर चरणे तार प्रेम उपजय ।।"३।।

( चै० च० )

**न धनं न जनं न सुन्दरीं,**
**कवितां वा जगदीश कामये ।**
**मम जन्मनि जन्मन श्वरे,**
**भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥४॥**

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—'हे जगदीश ! मैं आपसे धन, जन, सुन्दर पत्नी अथवा सालंकर कविता की कामना भी नहीं करता हूँ । मेरी एकमात्र प्रार्थना यह है कि आप ईश्वर में मेरी जन्म-जन्म में अहैतुकी भक्ति बनी रहे ।' प्रभु के इस चतुर्थ श्लोक पाठ करने का कारण उल्लेख करते हुए श्रील-कविराज गोस्वामिपाद बोले—

"कहिते कहिते प्रभुर दैन्य बाढ़िला ।
शुद्धभक्ति कृष्णठात्रि मागिते लागिला ॥
प्रेमेर स्वभाव, याँहा प्रेमेर सम्बन्ध ।
सेइ माने कृष्णे मोर नाहि प्रेमगन्ध ॥"
( चै० च० )

प्रभु ने जब तृणादपि श्लोक का पाठ किया तो उनके दैन्यसिन्धु में उफान आ गया, कारण यह था कि वे प्रेम के सिन्धु थे और इसलिए दैन्य के भी सिन्धु थे । हमने कहा है कि दैन्य और प्रेम भिन्न नहीं है ।

"दैन्यन्तु परमं प्रेम्णः परिपाकेण जन्यते ।
तासां गोकुलनारीणामिव कृष्ण-वियोगतः ॥"

अर्थात् 'प्रेम की परिपाक दशा में ही दैन्य का प्रकाश होता है । गोकुल रमणीगणों का श्रीकृष्ण के विरह जो परम



दैन्य प्रकट हुआ वह प्रेम की परिपाक दशा में ही हुआ ।" श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर वृजसुन्दरीगणों में श्रीकृष्ण के विरह में जो दैन्य का प्रकाश हुआ वह दैन्य की चरमभूमि थी । सर्वो-परि वृजरमणीगणोंमें सर्वश्रेष्ठा श्रीराधारानीका दिव्योन्माद ही दैन्य की उच्चतम पराकाष्ठा है । नीलाचल लीला के अन्तिम बारह वर्षों में श्रीराधाजी की दिव्योन्माद लीला के श्रीमन्महा-प्रभु की आस्वाद्य वस्तु थी । उसी समय इस शिक्षाष्टक का प्रकाश हुआ । इसलिए प्रभु के उस विभु राधाप्रेम के महादैन्य-सिन्धु में कितनी भाव तरंगें उठी होंगी, वह सीमा से परे है । दैन्य तरंगों के उच्छलन से चित्त जब उद्वेलित हुआ तो श्रीभग-वान् के पास शुद्धभक्ति के लिए प्रार्थना करने लगे । यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि जो स्वयं ही प्रेम के सिन्धु हैं उन्हें साधा-रण साधक की भाँति शुद्धभक्ति पाने की इच्छा क्यों ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि—"प्रेमेरं स्वभाव—जाँहा प्रेमेर सम्बन्ध । सेइ माने कृष्णे मोर नाहि प्रेमगन्ध ॥" भक्ति का स्वभाव ही है अतृप्ति । पिपासा ही भजन-रसास्वादन का पैमाना है । प्रेम सदैव ही प्रेमी के हृदय को गहन प्रेम पिपासा से व्याकुल करके रखता है । जितनी पिपासा, उतना आस्वा-दन, जितना आस्वादन उतनी पिपासा । इस प्राकृत संसार में क्षुधा और खाद्यपदार्थ एक दूसरे का विनाश कर देते हैं, किन्तु प्रेम के राज्य में व्यवहार इसके ठीक विपरीत है । वहाँ कृष्ण-माधुर्य का आस्वादन प्रेम पिपासा को बढ़ा देता है और प्रेम पिपासा कृष्ण माधुर्य आस्वादन को बढ़ा देती है ।

"क्षुधा आर खाद्यवस्तु उभये येमन ।
उभये उभयेर हय विनाश कारण ॥

प्रेम राज्ये एइ रीति अति विलक्षण ।
उभये उभयेर हय बर्द्धन कारण ।।"

श्रीवृहद्‌भागवतामृत के प्रथम खण्ड के अन्त में श्रीनारद ने श्रीकृष्ण से वर चाहा—

"श्रीकृष्णचन्द्र कस्यापि तृप्तिरस्तु कदापि न ।
भवतोऽनुग्रहे भक्तो प्रेम्णि चानन्दभाजने ।।"
(वृ०भा०-१।७।१३५)

"हे श्रीकृष्णचन्द्र ! आनन्दस्वरूप आप के अनुग्रहे भक्ति और प्रेम से कभी किसी की तृप्ति न हो, इस वर के लिए मेरी प्रार्थना है ।" इसको सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

"विदग्ध निकराचार्य्य को नामायं वरो मतः ।
स्वभावो मत्कृपाभक्तिप्रेम्णां व्यक्तोऽयमेव यत् ।।"
( ऐ–१।७।१३६ )

"हे विदग्धचूड़ामणि श्रीनारद ! आप ने यह किस वर के लिये प्रार्थना की है ? मेरी कृपा, भक्ति और प्रेम के इस प्रकार के स्वभाव (अतृप्ति-स्वभाव) का तो सभी जानते हैं ।।" भक्त प्रेम की दिशा में जितना ही अग्रसर होता है, उतनी ही वह प्रेम पिपासा से हाहाकार करता है । महाप्रभु प्रेमसिन्धु होते हुए भी स्वरूप दामोदर और रामानन्दराय से बोले— "शुन मोर प्राणेर बान्धव । नाहि कृष्ण प्रेमधन, दरिद्र मोर जीवन, देहेन्द्रिय वृथा मोर सब ।।" ( चै० च० ) अगर कोई कहे कि—प्रभु ! आप तो प्रेमावतार है, रात्रि-दिन आप के श्रीअंग में इतने अश्रु, पुलकादि प्रेम के विकार देखे जाते हैं। फिर आप ही यदि बोलें कि आप में कोई प्रेम नहीं है, तो इस बात पर कौन विश्वास करेगा ? इसके उत्तर में प्रभु बोले—



"तवे जे करि क्रन्दन, स्वसौभाग्य-प्रख्यापन, करि इहा जानिह निश्चय (ऐ) ।" अर्थात् मैं जो रोता हूँ उसका कारण भक्ति नहीं है, मेरी जो भक्ति है, मैं जो सौभाग्यशाली हूँ, इस बात को प्रकाशित करने के लिए ही मैं रोता रहता हूँ । भक्ति का ऐसा विचित्र तृष्णामय स्वभाव है । इसी कारण प्रेम के सिन्धु में दैन्य का आलोड़न होता है । प्रवल दैन्यभाव से प्रभु साधारण अजातरति साधक की भाँति श्रीभगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं—"न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।" 'हे जगदीश ! मैं धन जन, सुन्दर पत्नी, कविता (कवित्व शक्ति) आदि कुछ भी नहीं चाहता हूँ ।

मायामुग्ध जीव श्रीगोविन्द के चरणों को भूलकर अनादिकाल से धन-जन आदि सांसारिक सुखों की कामना लिए हुए कर्ममय संसार में विभिन्न योनियों में घूम रहा है । दुर्लभ मानव देह पाकर एवं महत्‌कृपा से श्रीभगवान् की उपासना का पथ पाकर भी किसी-किसी पूर्व संस्कारवश श्रीभगवान् से धन जन आदि की कामना करता है । इन सब अन्य प्रकार की वासनाओं के मन में बने रहने से साधन भजन करते रहने पर भी प्रेमलाभ अत्यन्त दूर ही रहता है ।

"भुक्ति मुक्ति सिद्धि वाञ्छा मने यदि रय ।
साधन करिलेओ प्रेम उत्पन्न ना हय ।।"
( चै० च० )

श्रुति कहती है—"भक्तिरस्य भजन तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येन अमुस्मिन् मनः कल्पनमेतदेव हि नैष्कर्म्यम्"

(गोपालतापनी)। अर्थात् 'श्रीभगवान् का भजन ही भक्ति है। इस लोक और परलोक की समस्त प्रकार की कामनाओं से रहित होकर सदैव श्रीभगवान् स्मृतिमय परम आवेश ही भजन है। और इसी को वास्तव में नैष्कर्म्य कहा जाता है।' इस स्थान पर भजन और नैष्कर्म्य के समानाधिकरण द्वारा यह तत्त्व ही प्रकाशित होता है कि शुद्ध भजन में प्रवृत्त होने से ही भक्त के सब प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं, इसलिए उसके अन्तर में भगवान् की सेवा को छोड़कर अन्य कोई वासना रुक ही नहीं सकती है। तब गुणवृत्तिशून्य मन केवल श्रीभगवान् के सेवारसास्वादन में ही विभोर रहता है। श्रीनारदपञ्चरात्र में इसीलिए भक्ति के लक्षण प्रसंग में कहा गया है—

"सर्वोपाधि विनिर्मुक्त तत्परत्वेन निर्म्मलम्।
हृषिकेन हृषिकेशसेवन भक्तिरुच्यते ॥"

"सर्वप्रकार की उपाधि अर्थात् भगवत्सेवावासना को छोड़कर अन्य वासना हीन एवं सेवापरता से निर्मल इन्द्रिय समूह के द्वारा इन्द्रियों के अधिपति श्रीकृष्ण की सेवा को ही भक्ति कहा जाता है।" इस सब श्रुति-स्मृति की उक्ति का विचार करते हुए श्रीरूपगोस्वामिपाद भक्ति के अनवद्य वैशिष्ट्य और श्रुति-स्मृति सम्मत शुद्धभक्ति के पूर्ण लक्षण निम्न श्लोक में व्यक्त कर रहे हैं।

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥"
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

"अन्याभिलाषिताशून्य, ज्ञानकर्मादिद्वारा अनावृत, अथच आनुकूल्यात्मक श्रीकृष्णानुशीलन को ही उत्तमा भक्ति कहा जाता है।" श्रीकृष्ण के निमित्त (यहाँ पर श्रीकृष्ण कहने का अर्थ अन्यान्य भगवद् अवतार भी हैं) या श्रीकृष्ण-सम्बन्धीय आनुकूल्यमय अनुशीलन ही भक्ति है। यही भक्ति का मुख्य लक्षण या स्वरूप लक्षण है। अनुशीलन पद 'शील्' धातु से निष्पण्ण है। 'शील्' धातु का अर्थ है शीलन। यह शीलन भी दो प्रकार का है—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। प्रवृत्ति मूलक का कायिक-वाचिक-चेष्टारूपा और प्रीतिविषयात्मक मानस भाव है। अर्थात् देह के द्वारा श्रीकृष्ण की परिचर्या सेवा आदि, वाक्य द्वारा उनके नाम, गुण, लीला आदि का कीर्त्तन, मन द्वारा नाम, गुण, लीला आदि का चिन्तन और अन्तःकरण द्वारा सदैव प्रीति-सम्पादन करना। और निवृत्ति मूलक का तात्पर्य नामापराध और सेवापराध आदि वर्जनात्मक क्रिया कलापों से है।



इस अनुशीलन के भक्तिमात्र के सिद्धि के निमित्त 'आनुकूल्य' यह विशेषण दिया है। क्योंकि आनुकूल्य भाव को छोड़कर कृष्णानुशीलन भी भक्तिदायक नहीं है। प्रतिकूल भाव से भी कृष्णानुशीलन हो सकता है, जिस प्रकार कंस, शिशुपाल आदि को हुआ, किन्तु प्रतिकूल भाव के रहने के कारण उससे भक्तित्व सिद्ध नहीं होता है।

फिर आनुकूल्य कहने से यदि श्रीकृष्ण की रुचिकर प्रवृत्ति को ही ग्रहण किया जाय, तब भक्तिलक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आ सकता है। जिस प्रकार असुरगणों के अस्त्र प्रहारादि अत्यन्त बलशाली श्रीकृष्ण को रुचि कर होते हुए भी असुरगणों के उनके प्रति द्वेष या प्रतिकूल भाव के कारण उसमें भक्तिरस नहीं है। दूसरी ओर माँ यशोदा भूख से

पीड़ित श्रीकृष्ण को छोड़कर उबलते हुए दूध को चूल्हे से उतारने चली गईं, माँ का यह कार्य कृष्ण को रुचिकर न लगा; वरन् उस समय उन्हें क्रोध का उद्रेक हुआ। फिर भी माँ यशोदा का प्रतिकूल भाव न रहने से उसमें भक्ति रस का पोषण हुआ। इसलिए यहाँ पर 'आनुकूल्य' का अर्थ प्रतिकूल भाव की शून्यता से ही है।

यह भक्ति सोपाधिक और निरुपाधिक भेद से दो प्रकार की है। उपाधियुक्त भक्ति का नाम सोपाधिक और उपाधिशून्य भक्ति का नाम निरुपाधिक है। भक्ति की मुख्यरूप से दो प्रकार की उपाधियाँ हैं। एक अन्याभिलाष और दूसरी अन्य मिश्रण। अन्याभिलाष का अर्थ है भोग वासना, मुक्ति बासना युक्त और अन्य मिश्रम का अर्थ है ज्ञान, कर्म आदि के आवरणयुक्त। इसलिए ऊपर कहा गया अनुशीलन यदि अन्याभिलाष शून्य और अन्य मिश्रण रहित होकर केवल श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला आदि के श्रवण, कीर्त्तनादि आवेशमय हो तभी उसको शुद्धाभक्ति कहा जायेगा। इसी का नामान्तर उत्तमा, निर्गुणा, केवलामुख्या, अनन्या, अकिंचना और स्वरूप-सिद्धा भक्ति है। इसीलिए शुद्धभक्तगण श्रीभगवान् की सेवा या भक्ति को छोड़ और किसी की भी कामना नहीं करते हैं। श्रीप्रह्लाद के स्तव से प्रसन्न होकर श्रीनृसिंहदेव ने उनसे वर माँगने के लिये कहा तो श्रीप्रह्लाद बोले—

"मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्संगभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥
भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्व चोदयत् ।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥



नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥"

"हे प्रभो ! हे जगद्गुरो ! मैं कामना के साथ रहने से अत्यन्त भयभीत हूँ, कामना-त्याग के लिए ही मैंने आपका आश्रय लिया है। मेरा चित्त स्वभाव से ही कामना-मलिन है, अतः अन्य वर से मुझे मत लुभाइये। आप क्या भृत्य लक्षण के जिज्ञासु होकर संसार के बीजस्वरूप हृदयग्रन्थि के समान भवबन्धनकारी अभिलाषाओं के लिये मुझे प्रेरणा दे रहे हैं? नहीं तो हे करुणामय भक्त के अनर्थ साधन के लिए क्या आपकी प्रवृत्ति सम्भव है ? आपकी सेवा करके जो आप के पास पार्थिव भोग पदार्थों की कुछ भी कामना करता है, वह सेवक न होकर, वणिक् या व्यवसायी है।

प्रह्लाद महाशय की उक्ति का तात्पर्य यह है कि करुणामय श्रीभगवान् सेवक के हृदय को भवबन्धन से बाँधने वाली गाँठ के रचयिता धन, जन आदि का लोभ कभी भी नहीं दिखा सकते हैं। इसीलिए वे भक्त को जो धन, जन आदि का वर लेने को कहते हैं—यह केवल सकाम भक्तों को प्रकृत दासों के लक्षण बतलाने के लिए ही है। अर्थात् भगवान् वर देने के लिए इच्छुक होने पर भी शुद्ध भक्त जब उनकी सेवा को छोड़ अन्य कोई वर नहीं चाहते हैं, तब संसार के सकाम मनुष्य सहज ही समझ सकते कि भगवान् के पास उनकी सेवा को छोड़कर कुछ भी वर नहीं माँगना चाहिए। कारण यह है कि जो भगवान् का भजन करते हैं, उनका भगवान् की सेवा को छोड़ पार्थिव धन, जन आदि की माँग करना उनका सेवक होना नहीं है बल्कि वह तो वणिक् या व्यवसायी होना है। व्यवसायी व्यक्ति जिस प्रकार कुछ मूलधन लेकर

अधिक आय के लिए प्रयत्न करता है, उसी प्रकार सकाम व्यक्ति सामान्य पुष्प, नैवेद्य आदि भगवान् को अर्पण करके उनके पास अधिक अर्थ-सम्पत्ति आदि के लिए प्रार्थना करता है। श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद ने लिखा है—

"भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते ।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥"
(भ०र०सि०-१।२।२२)

अर्थात् "भोग-वासना और मुक्ति-वासना रूपी पिशाची जिस क्षण तक हृदय में अवस्थान करती है उस क्षण तक भक्ति सुख का हृदय में उदय ही सम्भव नहीं है।" पिशाची अथवा भूत के प्रकोप से ग्रस्त व्यक्ति जो कुछ भी भोजन करता है, वह सब भूत ही भक्षण करता है, इसलिए भोजन आदि करने के बाद भी वह व्यक्ति क्रमशः दुर्बल होता जाता है, उसी प्रकार जिसके हृदय में भोग-वासना या मुक्ति-वासना विराजती है, उनके भजन करने से भी उस भजन द्वारा भुक्ति-मुक्ति की कामना ही परिपुष्ट होती है, भजन-विग्रह धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है। इसीलिए करुणामय श्रीभगवान् भजनकारी सकाम भक्त के हृदय में अपने नाम, रूप, लीला आदि के माधुर्य-आस्वादन को दान करके उसके हृदय से इस कामना पिशाची को विताड़ित कर स्वयं उसके चित्त को स्वच्छ कर देते हैं।

"कृष्ण कहे—आमाय भजे, मागे विषय-सुख।
अमृत छाड़ि विष मागे, एइ बड़ मूर्ख ॥
आमि विज्ञ एइ मूर्खे विषय केने दिब ?
स्वचरणामृत दिया विषय भुलाइब ॥"
( चै० च० )



श्रीमद्भागत कहती है—"स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छा-मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्" (भा०-५।४६।२६)। अर्थात् "जो श्रीभगवान् का भजन करते हैं किन्तु श्रीकृष्ण चरण पाने की इच्छा नहीं करते हैं, केवल धन-जन आदि की कामना करते हैं, श्रीभगवान् स्वयं उनकी अन्य कामनाओं को ढँक देने वाले अपने पादपल्लवों को उन्हें दान कर देते हैं।" ऊपर कहे हुए श्लोक की टीका में श्रीमद् जीवगोस्वामिपाद लिखते है—"स तु परमकारुणिकः तत्पादपल्लवमाधुर्य्याज्ञानेन तदनिच्छ-तामपि भजतामिच्छापिधानं सर्वकामसमापकं निजपादपल्लव-मेव विधत्ते—तेभ्यो ददातीत्यर्थः। यथा माता चर्व्यमाणां मृत्तिकां बालकमुखादपसार्य तत्र खण्डं ददाति, तद्वदिति भावः।" अर्थात् भगवत् पादपद्मों के माधुर्य की बात जो नहीं जानते हैं, या कहिये श्रीचरण-प्राप्ति की जिनकी इच्छा नहीं है, वे यदि श्रीकृष्ण-भजन करते हैं, परम करुणामय श्रीभगवान् उनको सर्व कामनाओं के परिपूरक अपने श्रीचरण प्रदान करते हैं। जिस प्रकार जो बच्चा मिट्टी खाता है, माँ उसके मुख से अनिष्ट कारक मिट्टी को बाहर निकाल कर फेंक देती है और उसके स्थान पर अत्यन्त स्वादिष्ट मिष्ठान्न को उसके मुख में दे देती है। इसी प्रकार भगवत्कृपा से धन-जन आदि की कामना सकाम भक्त के हृदय से दूर हो जाती है और वे शुद्धा या निर्गुणा भक्ति को लाभ करके धन्य हो जाते हैं।

प्रायः महत्कृपा से ही सकाम भक्त के अन्तर से धन-जनादि की वासना दूर होती है और वे शुद्धभक्ति लाभ करके धन्य हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकपिल देव ने सकामा भक्ति को तामस, राजस और सात्त्विक रूप से उल्लेख किया है। सात्त्विक भक्ति को कैवल्यकामा कहकर भी आख्या

दी जाती है। वास्तव में भगवान् की चित्शक्ति ह्लादिनी और सम्बित् की सारवृत्ति ही भक्ति है, इसलिए चिदानन्दरूपिणी और निर्गुणा है। प्राकृत तामस, राजस और सात्त्विक गुणों के साथ भक्ति का कोई सम्पर्क नहीं है। सकाम भजनशील व्यक्ति के अन्तर के प्राकृत गुणों के उपचार करने के लिए ही श्रीकपिलदेव ने भक्ति को तामस, राजस और सात्त्विक कहा है। तामस भक्ति का लक्षण—

"अभिसन्धाय योहिंसां दंभं मात्सर्यमेव वा।
सरम्भी भिन्नदृग्भाव मयि कुर्यात् स तामसः॥"
(भा० ३।२९।२)

श्रीकपिलदेव बोले—"हे माता! जो व्यक्ति हिंसा, गर्व, परश्रीकातरता आदि का संकल्प करके क्रोधी स्वभाव और भेददृष्टि रखते हुए (जिस प्रकार अपने सुख-दुःख से सुखी और दुःखी किन्तु अन्य के सुख-दुःख से दुःखी और सुखी) सर्वजीवों से दयाशून्य होकर जो मेरा भजन करता है, उसे तामस भक्त कहते हैं।" इस प्रकार का तामस भक्त भी शुद्ध भक्त के संग या कृपा के फल से शुद्धभक्ति का अधिकारी हो जाता है।

कहा जाता है कि दक्षिण देश के किसी राजा ने एक बार श्रीरंगनाथ जी को एक सौ आठ स्वर्ण कमल उपहार में दिये थे। मणि-मुक्ताओं से जड़ित स्वर्ण कमलों को ठाकुर के श्रीचरणों के नीचे स्तर-स्तर पर सजाया गया। बाद में एक ब्राह्मण ने अनेक तुलसी-पत्रों से ठाकुर की सेवा की। उससे दो-चार स्वर्ण कमल तुलसी-पत्रों से ढँक गये। राजा ने जब यह जाना तो ब्राह्मण की बहुत भर्त्सना की। शुद्धभक्त



ब्राह्मण ने राजा को बतलाया कि ठाकुर को स्वर्णकमल और मणिमुक्ताओं की अपेक्षा तुलसी अधिक प्रिय है। इस बात से मात्सर्यपरायण तामस भक्त वह राजा बहुत क्रोधित हुआ और उसने कहा कि—"तुलसी देकर ब्राह्मण पहिले श्रीभगवान् का दर्शन पायेगा या पहिले मैं भगवान् का दर्शन पाऊंगा, यह देखा जायेगा।" इसके बाद घर आकर राजा ने विष्णु दर्शन की कामना से विष्णु की प्रीति के लिए एक महायज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ करते-करते राजा को विश्वस्त सूत्रों से पता चला कि वह ब्राह्मण भगवद् साक्षात्कार कर चुका है। तब मात्सर्य-परायण राजा ने मात्सर्यज्वाला से क्षोभ व दुःख में अधीर होकर उस यज्ञाग्नि में प्राणत्याग करने का संकल्प किया। यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर जब महाराज यज्ञाग्नि में कूदने लगे, तब यज्ञकुण्ड से यज्ञपुरुष श्रीभगवान् उठ कर बोले—"राजन्! तुम यदि सैकड़ों बार भी इस प्रकार अपने प्राण त्याग करते फिर भी मैं तुम्हारे पास न आता। किन्तु जब मैंने अपने परम प्रिय भक्त ब्राह्मण को दर्शन दिये तो उन्होंने तुम्हारे ऊपर कृपा करने और दर्शन देने के लिये प्रार्थना की थी। उनकी प्रार्थना से ही मैं तुम्हारे पास आया हूँ, जिससे तुम मात्सर्य आदि त्याग करके शुद्धभाव से भजन करो और प्रेमलाभ कर के मेरी सेवा करके धन्य हो सको। रज, तम भाव हृदय के अन्दर रख कर मुझे कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।" यह बात कहकर भगवान् के अन्तर्ध्यान होने पर राजा उनकी कृपा से मात्सर्य त्यागकर शुद्धभक्ति लाभ कर भगवद् भजन की सम्पत्ति को प्राप्त कर धन्य हो गये।

इसी प्रकार राजस-भक्ति के लक्षण भागवत् में कहे गये हैं।

"विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्य्यमेव वा ।
अर्च्चादावर्च्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥"
( भा० ३।२९।९ )

अर्थात् "जो व्यक्ति विषय, यश अथवा ऐश्वर्य प्राप्ति का संकल्प लिए हुए प्रतिमा आदि में मेरा अर्चन करते हैं, वे व्यक्ति राजस हैं। कारण यह है कि उनका चित्त मुझे छोड़कर अन्य विषयों में आविष्ट रहता है, मेरे में चित्त के आविष्ट न रहने के कारण ही राजस भाव का कारण बनता है।' यह राजस भक्त भी श्रीभगवद्भक्त के संग और कृपा के प्रभाव से अपनी राजस भावना का त्याग कर शुद्धभक्ति लाभ करके धन्य हो जाते हैं। दृष्टान्त के रूप में श्रीध्रुव महाराज की बात कही जा सकती है। सौतेली माँ के वाक्यवाणों से दुःखी होकर ध्रुव महाशय ने अपनी माँ के उपदेश से उत्कृष्ट राजसिंहासन पाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक श्रीभगवान् को पुकारा था। श्रीनारद के दर्शन और कृपा के प्रभाव से उनके चित्त में राज्य-सिंहासन पाने की आकांक्षा दूर होकर उनका चित्त श्रीभगवान् के शुद्ध भजन में निविष्ट हुआ था। बाद में श्रीभगवान् के दर्शन के प्रभाव से ध्रुव महाशय ने स्तव किया।

"या निवृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किन्त्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ॥
भक्ति मुहुः प्रवहतां त्वयि में प्रसंगो-
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ॥



येनाञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं-
नेष्ये भवद्गुण-कथामृतपानमत्तः ॥"
(भा०-४।९।१०-११)

"हे नाथ ! तुम्हारे पादपद्मों का ध्यान करके और तुम्हारे भक्तजनों की कथा सुनकर प्राणियों को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, तुम्हारे स्वयं की महिमा स्वरूप ब्रह्म-साक्षात्कार से भी वह आनन्द नहीं मिलता है, और कालान्तर से नष्ट होने वाले स्वर्गादि भोगों में जो वह आनन्द नहीं है; उसके बारे में क्या कहा जाये ?

हे अनन्त ! जो सब निर्मलचित्त वाले महापुरुषगण आप के प्रति अविच्छिन्न भक्ति परायण हैं; मुझे उनका सत्संग मिले। उन साधुगणों के साथ आप के गुण कथारूप अमृत का पान करने से मत्त होकर इस अनेकानेक विपत्तियों से भरे भयानक संसार समुद्र को मैं अनायास ही पार कर जाऊंगा।" इस प्रकार श्रीध्रुव महाशय की शुद्धा या निर्गुणाभक्ति का ही परिचय पाया जा सकता है।

सात्त्विक भक्ति की लक्षणों के लिए श्रीमद्भागवत कहती है—

"कर्म्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥"
(भा०-३।२९।१०)

अर्थात् जो व्यक्ति कर्मपरिहार अर्थात् मोक्षप्राप्ति का उद्देश्य लेकर ईश्वर को कर्मों का अर्पण करते हैं, राजस भक्त के समान वह भी पृथग्भाव अर्थात् भक्ति-अपेक्षा मोक्ष को ही पुरुषार्थ मानते हैं, इस कारण वे मोक्षार्थी भक्त सात्त्विक कहे जाते हैं।

मोक्ष की आकांक्षा वाले भक्तगण भी महत्कृपा से मोक्ष वासना को छोड़कर शुद्धभक्ति का लाभ करके धन्य हो जाते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में वर्णन है—

"मुमुक्षु-जगते अनेक सांसारिक जन।
मुक्ति-लागि भक्त्ये करे कृष्णेर भजन॥
सेइ सबे साधुसंगे गुण स्फुराय।
कृष्ण भजन कराय मुमुक्षा छाड़ाय॥
नारदेर संगे शौनकादि मुनिगण।
मुमुक्षा छाड़िया कैल कृष्णेर भजन॥"

इसके बाद श्रीकपिलदेव ने शुद्धा या निर्गुणा भक्ति का लक्षण निरूपित किया—

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्व्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाऽम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे॥
सालोक्य सार्ष्टि सारूप्य सामीप्यैकत्वप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥"

(भा०-३।२९।११-१३)

मेरे गुणों के सुनने मात्र से ही, समुद्राभिमुख गंगाजल की धारा के समान, सर्वगुहाशय मेरे प्रति गुण श्रवणकारी की जिससे अविच्छिन्ना ( अटूट ) मनोगति हो जाती है, पुरुषोत्तम श्रीभगवान् के विषय में वही अहैतुकी और अव्यवहिता भक्ति को निर्गुणाभक्ति योग के लक्षण रूप में कहा जाता है। जिससे व्यक्ति मेरी सेवा को छोड़कर मेरे ओर से दी हुई सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्यादि मक्ति तक को स्वीकार नहीं करते



हैं। इस प्रकार के भक्तगण भगवान् के पास उनकी सेवा या शुद्धभक्ति की ही कामना करते हैं। इसीलिए महाप्रभु ने कहा—"मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि" 'हे जगदीश ! मेरी एक मात्र प्रार्थना यही है कि आप में जन्म-जन्म में मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।

प्रश्न हो सकता है कि क्या शुद्ध भक्त को बार-बार जन्म-मरण आदि का कष्ट भोग करना होता है ? इस सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभु ने श्रीचैतन्यचरितामृत में श्रीसनातनशिक्षा के प्रसंग में स्वयं कहा है—

"प्रभु कहे वैष्णवेर देह 'प्राकृत' कभू नय।
'अप्राकृत' देह भक्तेर चिदानन्दमय॥
दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइ काले कृष्ण तारे करे आत्मसम॥
सेइ देह तांर करे चिदानन्दमय।
अप्राकृत देहे तार चरण भजय॥"

देह अप्राकृत होने का अर्थ ही है जन्म-मृत्यु आदि के आरम्भक प्रारब्ध और अप्रारब्ध कर्मोंका क्षय होना। अप्राकृत चिदानन्दमय देह लाभ करने पर भी प्रारब्ध कर्मफलों के अनुसार जन्म-मरणादि होगा, इस वाक्य में "अयं बन्ध्यापुत्र" बात के समान व्याघात दोष दिखाई देता है। इसलिए भक्त का जन्म-मरण होने पर भी वह भगवान् की इच्छानुसार ही होता है, कर्मफलानुसार नहीं, यही वैष्णव सिद्धान्त है। प्रेमसिद्धि न होने तक देह-पतन के बाद देह ग्रहण करना होगा, इसका कारण यह है कि देह के बिना भजन सम्भव ही नहीं है। और फिर जातरति या प्रेम प्राप्त भक्त को भी श्रीभगवान् भजन-

रसमाधुरी का आस्वादन कराने के लिए दो-एक जन्म दे ही देते हैं। इसलिए कर्मों के फल से बँधे जीव जिस प्रकार देह-धारण और देह-त्याग करने में जो असहनीय दुःख भोग करते हैं, भक्त का जन्म-मरण उस प्रकार दुःखपूर्ण नहीं होता, किन्तु अनायास ही लब्ध होता है। पद्मपुराण उत्तरखण्ड में लिखा है—"न कर्म्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते।" अर्थात् वैष्णव का कर्मबन्धन जनित जन्म नहीं होता है। रहस्य यह है कि श्रीभगवान् एवं भक्ति को इस बारे में कुछ भी पता नहीं चलने देते हैं, इसका कारण यह है कि इसमें भक्त के दैन्य की हानि होती है। दैन्य की हानि होने से भजन की हानि अनिवार्य है। इसलिए भक्त महानुभाव भी मन में सोचते हैं कि उनका कर्मबन्धन जनित जन्म-मरण आदि अनिवार्य है। इसीलिए प्रार्थना करते हैं—"नाथ! जन्म सहस्रेषु येषु येषु भवाम्यहम्। तेषु तेष्वच्युताभक्तिरच्युतास्ति सदा त्वयि"। (श्रीविष्णुपुराण में श्रीनृसिंहदेव के प्रति श्रीप्रह्लाद की प्रार्थना) 'हे प्रभो! कर्मफलानुसार तो मुझे सहस्र-सहस्र योनियों में भ्रमण करना ही होगा; किन्तु चाहे जिस योनि में मुझे जन्माइये हे अच्युत! सदैव आप के श्रीचरणों में मेरी अटल भक्ति बनी रहे।' श्रीविद्यापति ठाकुर की प्रार्थना भी इसी प्रकार की है—

"किये मानुष पशु पाखी भये जनमिये,
अथवा कीट पतंग।
करम विपाके गतागति पुनः पुनः
मति रहु तुय परसंग।।"

( पदकल्पतरु )

श्रीमन्महाप्रभु बोले—'हे भगवन्! आप में जन्म-जन्म में मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।' श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ



में ही श्रीसूतमुनि शौनकादि ऋषिगणों के प्रति परम धर्म के लक्षणों के वर्णन प्रसंग में कह रहे हैं—

"स वै पुंसां परो धर्म्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति।।"

( भा०-१।२।६ )

अर्थात् "जिस धर्म का आचरण करने से इन्द्रियातीत भगवान् श्रीकृष्ण में प्रेमभक्ति उदय होती है, उसी अहैतुकी और अप्रतिहता भक्ति को ही परम धर्म कहा जाता है, जिसके द्वारा जीव की आत्मा सम्यक् रूप से प्रसन्नता लाभ करती है।" इस श्लोक के "अहैतुकी" शब्द की व्याख्या में श्रीधरस्वामिपाद लिखते हैं—"हेतुः फलाभिसंधानं तद्रहिता" अर्थात् अहैतुकी का अर्थ है फलानुसन्धानरहित। श्रीभगवान् की श्रीचरण सेवा को छोड़कर इस लोक और परलोक की समस्त कामनाओं से रहित। श्रीजीव कहते हैं—"तस्याः भक्तेः स्वरूपगुणमाह—"स्वतएव सुखरूपत्वादहैतुकी फलान्तरानुसन्धानरहिता" अर्थात् शुद्धभक्ति का स्वरूपभूत गुण विशेष ही अहैतुकी कहा जाता है। भक्ति स्वतः ही सुखस्वरूप है, इसीलिए "अहैतुकी" अर्थात् भगवद्संतोष को छोड़कर अन्य फलानुसन्धान रहित है।

अर्थात् श्रीभगवान् की ह्लादिनी और संवित् शक्ति का मिला हुआ सारांश ही भक्ति है। यहाँ सार कहने का आशय भगवदानुकूल्याभिलाष विशेष से है। श्रीभगवान् के आनुकूल्य या सेवावासना को छोड़कर अन्य कोई भी वासना भक्त में अन्तर में नहीं रहती है। श्रीभगवत्प्राप्ति या भगवत् सेवाप्राप्ति की आकांक्षा के साथ यदि और किसी आकांक्षा ( तृष्णा ) के

योग की सम्भावना रहती है तो स्थूणानिखनन के समान शुद्ध भक्त उसका वर्जन करके केवल सेवामात्र की कामना ही अपने अन्तर में रखते हैं। श्रीमद्भागवत में शुद्धभक्त श्रीवृत्रासुर के स्तव में इसका एक सुन्दर उदाहरण पाया जाता है—

"अहं हरे तव पादैकमूल,
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणानां,
गृणीत वाक् कर्म्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं,
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा,
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः,
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः॥
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥"

(भा०-६।११।२४-२६)

श्रीवृत्रासुर बोले—"हे हरे! आप के श्रीचरण-युगल जिसके एकमात्र आश्रय हैं, मैं आपके उन दासों का अनुदास होऊँ और सदैव बना रहूँ। हे प्राणनाथ! मेरा मन आप के गुणों का स्मरण करे, वाक्य आप का गुण कीर्त्तन करें, देह आप की ही सेवादि कार्य करे।

हे निखिलसौभाग्य निधे! आप को छोड़कर मैं ध्रुव-पद, ब्रह्मपद, विश्व का कर्त्तृत्व, रसातल का प्रभुत्व योगसिद्धि और मोक्षादि—किसी की भी आकांक्षा नहीं करता हूँ।



हे कमलनयन! अजातपक्ष पक्षिशावक भूख से व्याकुल होकर जिस प्रकार माता का दर्शन, गोवत्स जिस प्रकार माँ के स्तन के लिए माँ का दर्शन, दुःखी प्रिया जिस प्रकार विदेश गये हुए प्रिय के दर्शन की अभिलाषा करती है, मेरा मन भी उसी प्रकार आप के दर्शन के लिए उत्कण्ठित है। इस "अजात-पक्षा इव मातरं खगा" इत्यादि श्लोक की व्याख्या में श्रीजीव गोस्वामिपाद ने जो लिखा है उसका मर्मार्थ यह है कि अजात-पक्ष उसे कहते हैं जिसके पंख नहीं निकलते हैं, माँ को छोड़ उसका अन्य कोई सहारा नहीं होता है और माँ के साथ जाने का उसका सामर्थ्य भी नहीं है। यह बात जिस प्रकार प्रका-शित होती है; उसी प्रकार अजातपक्ष पक्षि-शावक की माँ का उल्लेख रहने से अन्य किसी की स्वाभाविक रूप से जो दया होना असम्भव है, उस दया की स्थिति और अधिकता प्रका-शित होती है। पक्षी के बच्चों की एकमात्र निर्भरता और अक्षमता और उनकी माँ की असाधारण दया की अधिकता के कारण माता के प्रति उनकी निरतिशय प्रीति प्रकाशित होती है। उसी प्रकार वृत्रासुर की एकान्त अक्षमता, निर्भरता और श्रीभगवान् में उनकी निरतिशय प्रीति और उनके प्रति श्रीभगवान् की भी असाधारण करुणा प्रकाशित होती है। और अजातपक्ष पक्षिशावकों की व्याकुलतामय मातृदर्शन की इच्छा के समान वृत्रासुर का चित्त भी जिस प्रकार भगवान् के दर्शनों की उत्कण्ठा से व्याकुल और अधीर होता है—यही कहा गया है। किन्तु शावकों की माँ उनके लिये जो खाद्य पदार्थ लेकर आती है वही वस्तु उनकी जीविका व आस्वाद्य भी है। इस-लिए उनकी दर्शनेच्छा केवल मातृ-निष्ठा ही हो, ऐसा नहीं है। कारण यह है कि माँ के दर्शन के साथ-साथ वे खाद्यवस्तु के

प्रति भी लालायित रहते हैं। इस अंश के कारण ही श्रीवृत्रासुर इस दृष्टान्त से सन्तोष न पाकर "स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः" 'क्षुधार्त्त गोवत्स जिस प्रकार स्तन का' यह बात कह रहे हैं। यहाँ पर स्तन गाय के शरीर का अङ्ग विशेष होते हुए भी उसे यहाँ गाय से अभेद मानकर गोवत्स के मातृ दर्शन की उत्कण्ठा का दृष्टान्त ही उपस्थित किया गया है। इससे पहिले के दृष्टान्त की अपेक्षा इस दृष्टान्त का श्रेष्ठत्व प्रदर्शित हुआ है। वत्सतर अत्यन्त छोटे गाय के बच्चे को कहते हैं, इसलिए ग्वाले उसको बाँध कर रखते हैं और यह कहा जाता है कि वह माँ के साथ नहीं जा सकता है, इस प्रकार बहुत समय बीत जाने पर भूख से दुःखी हो जाता है, इसलिए पक्षी के बच्चों की तुलना में गाय के बच्चों के मातृ दर्शन की इच्छा का विशेषत्व है और गाय स्वभाव से ही अन्य प्राणियों की अपेक्षा संतान के लिए अधिक स्नेहशील होती है, इस दृष्टान्त के अन्यतम विशेषत्व यह भी एक कारण है। फिर भी स्तन और गाय के कार्य-कारणत्व की विवेचना करने से इससे भी अपरितुष्ट होकर एक और दृष्टान्त की अवतारणा की गई—"प्रियं-प्रियेव व्युषितं विषण्णा" अर्थात् 'विषण्णा प्रिया जिस प्रकार विदेश गये हुए प्रिय के दर्शन की कामना करती है।' अन्य बहुत से शब्द होते हुए भी प्रिया और प्रिय इन दो शब्दों के द्वारा परस्पर एक दूसरे के प्रति जो अव्यभिचारी प्रीति है उसे समझा जा सकता है। जिससे चाहे वृद्धावस्था हो या बाल्यावस्था सहमरणादि देखा जाता है। कोई प्रिया जिस प्रकार प्रिय के विदेश चले जाने पर प्रियगत जीवना होकर उसके दर्शन की इच्छा करती है, उसको एकान्तभाव से सेवा करके सुखी करने की ही कामना है उसका और कोई उद्देश्य



ही नहीं रह जाता है, उसी प्रकार वृत्रासुर का मन भी श्रीभगवान् के दर्शन और सेवा की आकांक्षा करता है, और कुछ भी नहीं चाहता है। इसके बाद कहा है—

"ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्म्मभिः।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वा-
सक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥"
(भा०–६।११।२८)

'हे नाथ! अपने कर्मों के फलस्वरूप संसार चक्र में भ्रमण करते हुए मैं जहाँ कहीं भी जन्म ग्रहण क्यों न करूँ, वहाँ आप के भक्तगणों के साथ मेरी मित्रता हो, माया के वशीभूत होकर मेरा चित्त देह, गृह, स्त्री, पुत्र आदि किसी में भी आसक्त न हो।' इस प्रसंग में श्रीजीव लिखते हैं—"तदेतच्छुद्ध प्रेमोद्गारमयत्वेनैव श्रीमद्वृत्रवधोऽसौ विलक्षणत्वच्छ्रीभागवतलक्षणेषु, पुराणान्तरेषु गण्यते, वृत्रासुरबधोपेतं तद्भागवतमिष्यत इति।" (प्रीति संदर्भ—७२ अनुः) अर्थात् "श्रीवृत्रासुर महाशय के इन सब वाक्यों से विशुद्ध प्रेम उद्गीर्ण होता है, इसलिए श्रीवृत्र का बध वृत्तान्त श्रीमद्भागवत का एक विशेष प्रसंग कह कर वर्णित है। इसलिए अन्यान्य पुराणों में श्रीमद्भागवत के लक्षणों में वृत्रासुर बध एक अन्यतम लक्षण कहकर परिगणित होता है। जिस प्रकार मत्स्यपुराण में देखा जाता है—वृत्रासुर बध प्रसंग जिसमें है—वही श्रीमद्भागवत नाम से प्रसिद्ध है।" श्रीमद्भागवत एक शुद्धभक्ति प्रतिपादक शास्त्र है, इसीलिए वृत्रासुर के शुद्धभक्तिमय स्तव को लक्ष्य करके ही पुराणों के अन्दर उक्तरूप से लक्षण किये गये हैं।

श्रीमन्महाप्रभु स्वयं परतत्त्व की चरम सीमा होते हुए भी जीव शिक्षा के निमित्त अन्याभिलाष शून्य शुद्धभक्ति की ही श्रीभगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं। श्रीमन्महाप्रभु स्वयं ही श्लोक का संक्षिप्त पयारानुवाद भी कर रहे है—

"धन जन नाहि मांगों—कविता सुन्दरी।
शुद्धभक्ति देह मोरे कृष्ण ! कृपा करि॥" ॥४॥

**अयि नन्दतनुज किङ्करं**
**पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।**
**कृपया तव पादपङ्कजस्थित**
**धूलीसदृशं विचिन्तय ॥५॥**

अयि नन्दतनुज ! विषम संसार समुद्र में पड़ा हुआ मैं आप का दास हूँ, मेरे ऊपर कृपा करके अपने पादपद्मों में स्थित धूलि के समान मुझे चिन्ता करिये।

श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के शिक्षाष्टक के पंचम श्लोक के पाठ करने के कारण का उल्लेख करते हुए श्रील कविराज गोस्वामिपाद बोले—

"अति दैन्ये पुन मागे दास्यभक्ति दान।
आपना के करे संसार-जीव अभिमान॥"
( चै० च० )

श्रीमन्महाप्रभु का दैन्य-सिन्धु और भी समधिक उच्छ्वसित हो उठा, वे स्वयं को मायाबद्ध संसारी जीव मानकर यह पाँचवा श्लोक पाठ करने लगे। जीव जगत् की शिक्षा के



लिए करुणा के सोपान पर प्रभु का इस प्रकार नीचे उतर कर आना—यही उनकी भगवत्ता का चरम विकास है। जीव जितना ही त्याग वैराग्य और भजन के द्वारा सत्य और आनन्द की ओर उठ कर अग्रसर होता है, उसमें उतना ही जीवत्व का विकास होता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् जितना ही असत्य, दुःख और बन्धन की ओर नीचे उतर कर अग्रसर होते है, उतना ही उनकी भगवत्ता का विकास होता है। कारण यह है कि भगवान् के अन्तर में कामना की तरंग उठाने में एकमात्र भक्त का प्रेम ही सक्षम है, अन्य कुछ भी नहीं है। प्रेम के कारण ही करुणा के सोपान पर उनका इतना नीचे अवतरण होता है।

हम श्रीमद्भागवत में देख सकते हैं कि स्वयं भगवान् श्रीवृजेन्द्रनन्दन गोप-गोपियों के घरों में दही, मक्खन आदि चोरी करके खाते हैं। चोरी मनुष्य कब करता है ? जब किसी वस्तु के लिए उसका खूब लोभ होता है और साधारण उपायों से वह उसे पा नहीं सकता; और लोभ प्रबल होकर उसके विचार, बुद्धि और विवेक को नष्ट कर देता है, तब मनुष्य चोरी करने लगता है। आत्माराम, आप्तकाम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वृजवासियों के प्रेम में लोभ के वशीभूत होकर करुणा के सोपान पर कितने नीचे उतर आये, यह नवनीत चोरी आदि उसी के साक्षी हैं। उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभु का स्वयं का मायाबद्ध संसारी जीवाभिमान जीव-शिक्षा के सोपान पर उनके चरम अवतरण का ही साक्षी है।

श्रीमन्महाप्रभु ने पहिले कहा—'अयि नन्दतनुज ! मैं विषय संसार समुद्र में पड़ा हुआ हूँ।' 'अयि नन्दतनुज ! साधारणतः यह सम्बोधन स्त्री जातीय है। पुरुष जाति का

सम्बोधन है 'हे नन्दतनुज !' ऐसा सम्बोधन ही प्रायः देखा जाता है। इससे यह समझा जा सकता है कि श्रीगौराङ्ग का यह दैन्यभाव राधाभाव के अन्दर विराजमान होने से अभिव्यक्त हुआ है। राधाभाव विभु है, इसलिए इस महाभाव के अन्दर प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति हो सकती है और उसमें जो सब भाव उठते हैं, उनका समन्वय भी उसमें रहता है। श्रीगौरलीला में महाप्रभु के राधाभाव का निरन्तर आस्वादन चलता रहा है। भाव के समन्वय के विषय में कहा जा सकता है, जिस प्रकार महाप्रभु ने श्रीगदाधर के पास भागवत के ध्रुव-चरित्र और प्रह्लाद चरित्र को बार-बार सुना—

"गदाधर सम्मुखे पड़ेन भागवत।
शुनिया प्रकाशे प्रभु कृष्णभाव यत ॥
ध्रुवेर चरित्र आर प्रह्लाद-चरित्र।
शतावृत्ति करिया शुनेन सार्वहित ॥"
( चै० च० )

ध्रुव-चरित्र सुनने के समय ध्रुवमहाशय जब विपुल अनुराग पूर्वक श्रीहरि को बुलाते हैं, तब महाप्रभु के मन में भी अनुरागिणी श्रीराधा के कृष्णानुराग की बात आती है। प्रह्लाद चरित्र सुनते हुए—प्रह्लाद महाशय जब असुरों के द्रोहरूप विघ्न को जय करते हैं; विष भी उनके निकट आकर अमृत का कार्य करता है; राधाभाव में तब श्रीमहाप्रभु के मन में आता है कि—कृष्ण सेवा के निमित्त मुझे भी इसी भाव से घर की बाधा, वन की बाधा, सास-ननद की बाधा, लोकधर्म कुलधर्म की बाधा आदि सब को जय करना होगा। रमणी जीवन का कलंक विष भी कृष्ण सेवा के लिए मेरे पास अमृत



के समान स्वादिष्ट होगा। राधाभाव के ऊपर श्रीमन्महाप्रभु के साधकावेश की उक्ति का इन श्लोकों में इसी प्रकार का समन्वय होगा। जिस प्रकार इस श्लोक में 'अयि नन्दतनुज ! तुम्हारी दीनाकिंकरी मैं अत्यन्त विषम गृह-कारावास में पड़ी हुई हूँ, कृपा करके तुम इस दीना दासी को अपने पादपकजों की धूलि के समान मन में विचार करो, इत्यादि।

जो भी हो, इस श्लोक के 'अयि नन्दतनुज' सम्बोधन में प्रार्थना का एक गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। 'तनुज' शब्द का अर्थ है 'आत्मज'। पिता के औरस और माँ के खून के सहयोग से जिसका जन्म होता है, उसी को तनुज या आत्मज कहते हैं। क्या भगवान् का जन्म इस प्रकार से होता है ? वे तो सच्चिदानन्द विग्रह हैं। जीव के समान उनकी देह पिता के औरस और माँ के रक्त के सहयोग से निर्मित नहीं है। तब उन्हें नन्दतनुज क्यों कहा गया है ? श्रीमद्भागवत में श्रीपाद शुकमुनि ने भी कहा है—"नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः।" महामना श्रीनन्द के आत्मज उत्पन्न होने से उन्होंने परमानन्द लाभ किया। इस श्लोक की तोषणी टीका में लिखा है— "अत्रात्मजत्वमुत्पन्नत्वमात्मजत्वेनोत्पन्नत्वमित्यर्थत्रयं प्रत्येकान्वयाभ्यां व्यज्यते नीलोत्पलवदिति।" अर्थात् "आत्मज उत्पन्ने" इस अंश का अर्थ समझने के लिए उन दोनों शब्दों के अर्थ और इनके पारस्परिक सम्बन्धों को जानने की आवश्यकता है। जिस प्रकार 'नीलोत्पल' समझने के लिए नील किसे कहते हैं, और उत्पल क्या है और नील रंग का उत्पल के साथ क्या सम्बन्ध है, इसका समझने की आवश्यकता है। नहीं तो नीलोत्पल क्या है, यह नहीं जाना जा

सकता है। श्रीगीता में भगवान् ने अपने श्रीमुख से अर्जुन के प्रति कहा है—

"जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्ज्जुन॥"

( गीता: ४।६ )

"हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे दिव्य जन्म-कर्म के तत्त्व को जानते हैं, वे देह-त्याग के पश्चात् फिर और जन्म-कर्म को प्राप्त नहीं होते हैं, परन्तु मुझे ही प्राप्त होते हैं।" इस श्लोक के भाष्य में श्रीपाद् रामानुज ने लिखा है—"मदीयदिव्यजन्म चेष्टितयाथार्थ्यज्ञानेन विध्वस्तसमस्तमत्समाश्रयणविरोधिपाप्मा अस्मिन्नेव जन्मनि मामाश्रित्य मदेकप्रियो मामेव प्राप्नोति।" अर्थात् "मेरे दिव्य और अप्राकृत जन्म-कर्मादि के वास्तविक तत्त्व का ज्ञान होते ही उसी क्षण मेरे आश्रयविरोधी पापादि अनर्थ समूह नष्ट हो जाते हैं और वे मेरे चरणों का आश्रय लेकर साधन द्वारा मेरी प्रीति प्राप्त करके इसी जन्म में मुझको प्राप्त होते हैं।" इसलिए जिसके जन्म का तत्त्व जान लेने से ही फिर और जन्म नहीं होता है, उसका जन्म जीव के जन्म की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है, यह सहज ही समझा जा सकता है। उसके आत्मज होने का रहस्य यह है कि एकमात्र भक्त का प्रेम ही श्रीभगवान् के अन्तर में कामना की तरंग उत्पन्न कर सकता है। कोई वात्सल्य रस प्रेमी भक्त, श्रीभगवान् के समस्त ऐश्वर्य को भूलकर उनको सन्तान के रूप में पाकर उनका लालन-पालन करने के लिए, जब तीव्र उत्कण्ठा प्रकाशित करता है, तव उसकी प्रेम उत्कण्ठा श्रीभगवान् के चित्त में भी, सन्तानरूप से उस प्रेमी भक्त के वात्सल्य रस



आस्वादन के लिए, तीव्र उत्कण्ठा जगा देती है। तब भगवान् अजन्मा होकर भी अपने नित्यसिद्ध विग्रह के द्वारा ही जन्मानुकरण करके शिशु भाव से माता-पिता के वात्सल्य रस का आस्वादन करते हैं। वास्तव में पिता के औरस माँ के रुधिर से उनका शरीर निर्मित नहीं होता है। इस भाव से नित्यसिद्ध माता-पिता यशोदा और नन्द के वे नित्यकाल ही आत्मज हैं। इससे भगवान् की, भक्त के प्रेमरसास्वादन की, एक शाश्वत आकांक्षा का परिचय ही प्राप्त होता है। इसलिए भक्त को ही श्रीभगवान् को पाने का प्रयोजन हो, ऐसा नहीं है; भगवान् को भी भक्त को पाने की अत्यन्त आवश्यकता है। जहाँ चाहने और पाने की आवश्यकता दोनों ओर ही प्रवल है, वहाँ वस्तु की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। जहाँ आवश्यकता एक ओर से ही तो वहाँ प्राप्ति दुर्लभ होती। महाप्रभु बोले—अयि नन्दतनुज! तुम प्रेमरसास्वादन-लोलुप हो, इसलिए मुझे ही तुम्हारी आवश्यकता है, ऐसा नहीं, तुम्हें भी मुझे पाने का प्रयोजन रहता है। यही इस सम्बोधन की व्यञ्जना है।

'अयि नन्दतनुज! मैं विषम संसार-समुद्र में पड़ा हुआ हूँ। वास्तव में यह संसारसिन्धु अत्यन्त विषम है। विषम का अर्थ है—दुःसह, क्लेशकर और विषतुल्य दाहक। जिसके नामोच्चारण से संसारसिन्धु सूख जाता है, जिसके दर्शन मात्र से विश्वमानव संसारसिन्धु को अनायास ही पार कर प्रेम प्राप्ति करके धन्य हो जाता है, वही भगवान् श्रीमहाप्रभु संसारसिन्धु की विषमता की शिक्षा देकर जीव को सतर्क कर दे रहे हैं। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद इसी संसारसिन्ध की विषमता का वर्णन कर रहे हैं—

"संसारदुःखजलधौ पतितस्य काम,
क्रोधादि नक्रमकरैः कवलीकृतस्य ।
दुर्वासना-निगड़ितस्य निराश्रयस्य
चैतन्यचन्द्र ! मम देहि पदावलम्बम् ॥"
( चैतन्यचन्द्रामृतम्-९१ )

'हे श्रीचैतन्यचन्द्र ! मैं संसाररूप दुःख सिन्धु में पड़ा हुआ हूँ, काम, क्रोध आदि नक्र मकर के द्वारा कवलीकृत, दुर्वासना रूप रस्सी से बँधा हुआ हूँ; इस प्रकार निराश्रित मुझे अपने श्रीचरणों का आश्रय प्रदान करो।' यह संसार दुःख का समुद्र है। इस संसार सिन्धु में पड़ा जीव एकान्त में निराश्रय है। यदि कोई कहे कि संसार में माता-पिता, सन्तान-सन्तति, आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव बहुत से आश्रय हैं, यहाँ जीव निराश्रय कैसे है ? इसी कारण तो विशालसिन्धु के साथ संसार की तुलना की गई है। हजारों मनुष्य यदि दुष्पार सिन्धु के बीच में पड़े कभी डूब रहे हो और कभी ऊपर उठ रहे हो तो क्या वे एक दूसरे का आश्रय या सहारा बन सकते हैं ? सभी को दुरवस्था तो समान है। इस अवस्था में काम, क्रोधादि षड्‌रिपु नक्र मकर के समान जीवों को चीर-चीर कर खा रहे हैं। श्रीगोविन्द के चरणों को छोड़, और भक्त व भक्ति की कृपा को छोड़कर इन के हाथों से कर्मी, ज्ञानी, योगी कोई भी बच नहीं सकता। इस सम्बन्ध में हम दो चार पौराणिक कथाओं का उदाहरण दे रहे हैं।

तारकासुर के अत्याचारों से पीड़ित देवगणों ने ब्रह्मा के पास जाकर उसके निधन का उपाय जानने की जिज्ञासा प्रकट की। ब्रह्मा जी बोले—एकमात्र श्रीमन्महादेव के औरस से



उत्पन्न सन्तान ही तारकासुर को मारने में समर्थ होगी। इधर दक्ष के यज्ञ में सतीदेवी के देह त्याग के बाद वे कन्यारूप से हिमाचल के घर में जन्मीं और महादेव की आराधना कर उन्हें सन्तुष्ट भी कर लिया। किन्तु श्रीमन्महादेव इस समय एक ऐसी अखण्ड समाधि में निमग्न थे कि उनकी समाधि कब भंग होगी, इसका कोई पता नहीं। इसलिए देवगण यदि किसी प्रकार उनकी समाधि को भंगकर, पार्वती के साथ विवाह के लिये उन्हें किसी प्रकार राजी कर सकें, तभी तारकासुर के निधन का उपाय हो सकता है।

ब्रह्मा की युक्ति से प्रेरित होकर देवगण कामदेव के पास जाकर महादेव की समाधि भंग करने के लिए प्रार्थना करने लगे। कामदेव अभिमान वश यह नहीं कह पाये कि श्रीमन्महादेव की समाधि को भंग करने की सामर्थ्य और साहस उन में नहीं है। देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करने के बाद कामदेव महादेव जी के पास पहुँचने के लिये चल पड़े। जाते समय कामदेव मन ही मन विचार करने लगे— 'आज जिनके अनिष्ट साधन के लिए आ रहा हूँ, उनसे मेरा विनाश अनिवार्य है। इसलिए जीवन की संध्या-वेला में एक बार अपनी शक्ति का परिचय विश्व के जीवों को दिये जाऊँ।' यह विचार कर मदनदेव ने अपने पुष्प-धनुष से पाँच वाणों को योजनानुसार विश्व को लक्ष्य करके छोड़ दिया। उन पाँचों वाणों की पीड़ा से विश्ववासी कर्मी, ज्ञानी, योगी, न्यासी सभी मोहित होकर पड़ गये। एकमात्र श्रीहरि के शरणागत भक्तों को छोड़कर कोई नहीं बच पाया। महाकवि तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में इस आख्यान का वर्णन करते हुए लिखा है—

"धरा न काहु धीर, सब के मन मनसिज हरे ।
जाहि राखे रघुबीर, तेहि उबरे तेहि काल मह ।।"

अर्थात् 'तत्काल तो कोई भी धैर्य-धारण करने में समर्थ नहीं हुआ, अन्त में श्रीभगवान् ने जिसकी रक्षा की वही बच पाया ।'

क्रोध के आवेश में महातेजस्वी दुर्वासा ऋषि तक भक्त श्रेष्ठ महाराज अम्बरीष का विनाश करने के लिए तैयार हो गये थे । लेकिन भक्ति के प्रभाव से सब कुछ सहन करते हुए भी महाराज ने महान् धीरता का परिचय दिया । महातेजस्वी विश्वामित्र को महर्षि वशिष्ठ ने जब ब्राह्मण स्वीकार नहीं किया तो विश्वामित्र ने क्रोधान्ध होकर वशिष्ठ की सौ सन्तानों का निधन कर दिया, लेकिन भक्ति के प्रभाव से वशिष्ठ सब कुछ सहन करने में समर्थ हुए थे । यद्यपि दुर्वासा, विश्वामित्र आदि का क्रोध साधारण मनुष्यों के समान तमोगुण का परिचायक नहीं था, किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही वह प्रकाशित हुआ था, फिर भी वे स्वयं आचरण करके विश्व साधकगणों को यह शिक्षा दे गये हैं कि संसारसिन्धु में आचरण कर रहे इन सब काम, क्रोध आदि नक्र मकर आदि की शक्ति कितनी व्यापक है ।

अर्थ-सम्पदा आदि के लोभ को भी श्रीभगवान् के चरणाश्रित भक्त को छोड़कर कोई भी सहसा जय करने में समर्थ नहीं होता है । एक बार लक्ष्मी-नारायण के बीच आपस में प्रणय-कलह हुआ । लक्ष्मीदेवी ने कहा 'संसारी मानव आप की अपेक्षा मेरी अधिक आकांक्षा करता है ।' नारायण ने कहा—'अच्छा परीक्षा करके ही देखा जाय । चलो, मैं जहाँ



जाता हूँ, तुम भी वहाँ जाकर अपने प्रभाव का विस्तार करो । देखो किसकी जीत होती है ।'

भगवान् श्रीनारायण ने एक बड़े सेठ की धर्मशाला में पहुँच कर मधुर स्वर से नाम-कीर्त्तन आरम्भ किया । कीर्त्तन सुनकर सेठ आकर्षित होकर बोला—'साधु बाबा ! मेरी इस धर्मशाला में कुछ दिनों तक कीर्त्तन—सुनाकर मुझे धन्य करिये ।' छद्मवेशी श्रीनारायण बोले-"आपके इसघर में ही मैं कीर्त्तन करना चाहता हुँ, किन्तु यदि आप अन्य घर में जाने के लिए कहेंगे तो मैं नहीं जाऊंगा ।" सेठजी बोले—'ना, ना ! आप इस घर में ही जितने दिन इच्छा हो रहिये, कोई अन्य यात्री चाहे जितना भी रुपया दे, यह घर उसे नहीं दूंगा ।' श्रीनारायण की इच्छा को समझकर कमलादेवी एक राजकन्या का वेश धारण कर उसी घर को भाड़े पर लेने के लिए पहुँची । सेठ ने कहा, "वहाँ एक साधुबाबा कीर्त्तन करते है, आप दूसरा घर ले लीजिए ।" कमला ने कहा—'ना, मुझे तो यही घर पसन्द है, साधु को अन्य घर में भेजकर यदि मुझे यही घर दो तो प्रतिदिन हजार रुपया भाड़ा दूंगी ।' सेठ बोले—'रोज ! हजार रुपया ! अच्छा थोड़ा रुको, साधुबाबा को समझाकर देखता हूँ ।' साधु के पास आकर सेठ बोले—'महाराज जी ! एक विशेष कारण से आप को दूसरे घर में जाना होगा ।' नारायण समझ गये कि कमलादेवी आ गई हैं । छद्मवेशी-नारायण बोले–'आपने तो कहा है कि यह घर अन्य किसी को नहीं देंगे, फिर मुझे यहाँ से हटने के लिए क्यों कह रहे हैं ?' सेठ बोले—'देखिये महाराज ! मैं संसारी मनुष्य हूँ, एक राजकन्या इस घर के लिए प्रतिदिन हजार रुपया का भाड़ा देना चाहती है । विषयी मनुष्य का इतने रुपयों का नुकसान होने से आप को क्या लाभ होगा ? आप को इससे

इसी प्रकार मद आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। महत्कृपा मूला भक्ति के आश्रय को छोड़कर घोर संसार-सिन्धु में विचरणशील काम-क्रोध आदि नक्र-मकर के हाथों से बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशय कहते हैं कि भक्ति के आश्रय से ही यह निरन्तर दुःखदायी काम, क्रोध आदि नक्र-मकर शत्रुता त्याग कर महामित्र के समान कार्य करने लगते हैं। तब यह सब भक्त के भजन में ही सहायक होते हैं।

"काम क्रोध लोभ मोह, मद मात्सर्य्य दम्भ सह
स्थाने स्थाने नियुक्त करिब।
आनन्द करि हृदय रिपु करि पराजय
अनायासे गोविन्द भजिब॥
कृष्ण-सेवा कामार्पणे, क्रोध भक्त-द्वेषि-जने
लोभ साधुसंगे हरिकथा।
मोह इष्ट लाभ बिने, मद कृष्ण-गुण गाने
नियुक्त करिब यथा तथा॥
अन्यथा स्वतन्त्र काम, अनर्थ आदि जारधाम
भक्ति-पथे सदा देय भंग।
किवा से करिते पारे, काम क्रोध साधकेरे
यदि हय साधु जनार संग॥"

( प्रेमभक्ति चन्द्रिका )

श्रील ठाकुर महाशय षड़् रिपुओं के बीच मात्सर्य का कोई स्थान न खोज पाये। कारण श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही देखा जाता है— 'निर्म्मत्सराणां सतां' भक्ति निर्मत्सर सद्गुणों वाले व्यक्ति के लिए ही अनुष्ठेय है। "परोत्कर्षासहनं



मात्सर्य्यम्" अन्य के उत्कर्ष को न सहपाने को ही 'मात्सर्य' कहते हैं। यह मात्सर्य नामक हीनवृत्ति जिस हृदय में स्थित होगी, वहाँ पर उसकी प्रणयिणी प्रतिष्ठाशा आकर उपस्थित होगी। मात्सर्यरूप चाण्डाल के औरस और प्रतिष्ठाशा नाम की पिशाची के गर्भ से हिंसा और असूया ( ईर्ष्या ) नाम की जुड़वाँ सन्तानों का जन्म होता है। इन सभी के भीम-ताण्डव नृत्य से हृदय के सद्वृत्ति-समूह चूर चूर हो जाते हैं। इसलिए उस चित्त में भक्ति के आलोक-पात होने की कोई सम्भावना नहीं होती है।

इस विषम संसार सिन्धु में पड़े जीवकुल के हाथ-पैर दुर्वासनारूप बन्धन से बँधे हुए हैं। "दुर्वासना-निगड़ितस्य" यह निगड़ या बन्धन साधारण रस्सी के बन्धन के समान नहीं है, यह बड़ा ही भयंकर, सजीव और सक्रिय है। एक बड़ी नदी के किनारे एक छोटा सा गाँव था। नदी के पास के गाँवों के लोग प्रायः तैराक होते हैं और बाढ़ में पानी के साथ बह-कर आने वाली लकड़ी आदि वस्तुओं को पानी में घुसकर या तैर कर निकाल लेते है। एक दिन नदी में भीषण बाढ़ आई हुई थी। कई लोग नदी के किनारे खड़े होकर देख रहे थे कि बाढ़ के पानी में कुछ बह कर आता है कि नहीं। अचानक उन्होंने देखा कि काले रंग की कोई वस्तु बही जा रही है, जो ठीक कम्बल के समान लग रही है। एक तैराक उसे कम्बल समझ कर नदी में कूद गया और उस काली वस्तु को पकड़-कर उसके साथ-साथ नदी की तेज धारा में बहने लगा। नदी के किनारे पर खड़े उसके एक साथी ने कहा—'अरे उसको खींचकर ले आओ, यदि न ला सको तो उसे वहीं छोड़कर तुम बाहर निकल आओ।' वह बोला—'भाई! मैं तो इस कम्बल

कभी भी समर्थ नहीं होता है। कृपा से ही साधना की पूर्ण सफलता है। इसीलिए प्रभु श्रीकृष्ण-कृपा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। श्रीमद्भागवत के ब्रह्मस्तव में देखा जाता है कि जो श्रीभगवान् की कृपा की प्रतीक्षा करते हैं, वही श्रीभगवान् के पादपद्मों के लाभ के उत्तराधिकारी हैं।

"तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो,
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते,
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥"

( भा०—१०।१४।८ )

ब्रह्मा ने कहा—'हे प्रभो ! आप गुणाधिष्ठाता, अखिल गुणनिधि हैं, इसलिए आप की गुणावली की गणना करने में कोई भी समर्थ नहीं है। इसलिए आप की करुणा की वर्षा कब होगी, इस बात की प्रतीक्षा करते हुए जो अनासक्त चित्त से अपने किये हुए कर्मों का भोग करते-करते काया-मन-वाक्य से आपको नमस्कार विधानपूर्वक भजन करते हुए जीवन यापन करते हैं, वही पुत्र द्वारा पैतृक सम्पत्ति प्राप्ति के समान, आपके श्रीचरण प्राप्ति के अधिकारी होते हैं।' प्रभु कह रहे हैं—'हे भगवन् ! आप कृपा करके अपने इस किंकर (दास) को अपने पदपंकज स्थित धूलिकण के समान समझिये, जिससे आप का यह सेवक आप सेवा लाभ करके धन्य हो सके।' जिस प्रकार धूलिकण सब समय ही चरण में लगे रहते हैं, उसी प्रकार प्रभु श्रीकृष्ण पादपद्मों में पराग के समान निरन्तर लगे रहने की कामना कर रहे हैं। साधक को भी इसी प्रकार की कामना करना



उचित है—इन चरणों में मन क्यों निरन्तर पड़ा नहीं रहता है। क्यों यह दुष्ट मन आनन्दमय चरण छोड़कर घृणित विषयरसों में सतत डूबा रहना चाहता है ? मुझ जैसे जीव का क्या दुर्दैव है, स्वप्न में भी विषय की आकांक्षा करता है। कब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था में मन कृष्ण-चरणों में पड़ कर रहेगा—इस अवस्था की प्राप्ति के लिए प्राणों से रोना चाहिए। प्रभु ने कहा—'हे कृष्ण ! मैं आपका किंकर हूँ।' 'किं करोमि' 'किं करोमि' अर्थात् 'मैं क्या सेवा करूँ, क्या सेवा कर सकता हूँ'—निरन्तर इस प्रकार की उत्कण्ठामय सेवा वासना जिसके मन में जागती रहती है, उसी का नाम किंकर है। इस प्रकार की सेवा वासना जागने से चंचल मन धीरे-धीरे विषय को छोड़कर अभीष्ट चरणों में निविष्ट होता जाता है और श्रीभगवान् भी फिर उसको धूलिकणों के समान अपने श्रीचरणों से त्यागने (हटाने) की इच्छा नहीं करते हैं। प्रभु ने स्वयं इस श्लोक का अनुवाद करके कहा है—

"तोमार नित्यदास मुञि तोमा पासरिया।
पड़ियाछो भवार्णवे मायाबद्ध हञा॥
कृपा करि कर मोरे पदधूलि सम।
तोमार सेवक करों तोमार सेवन॥"

( चै० च० )

**नयनं गलदश्रुधारया**
**वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।**
**पुलकैर्निचितं वपुः कदा**
**तव नाम ग्रहणे भविष्यति॥६॥**

हे भगवन् ! मेरा ऐसा कौन सा दिन होगा—जब तुम्हारा नाम लेते हो विगलित-अश्रुधारा से मेरी आँखें परि-व्याप्त होंगी, मेरा मुख (कण्ट) गद्‌गद वाक्यों से रुद्ध हो जायेगा और देह पुलकित हो उठेगा ? श्रील कविराज गोस्वा-मिपाद इस श्लोक की व्याख्या भूमिका में लिखते हैं—

"पुन अति उत्कण्ठा दैन्य हइल उद्‌गम ।
कृष्ण-ठाँइ मागे सप्रेम-नामसंकीर्त्तन ।।"
( चै० च० )

प्रभु का दैन्य वेग क्रमशः बढ़ता हुआ चल रहा है । उच्छलित दैन्य से उनके चित्त में विपुल उत्कण्ठा प्रकटित हुई । किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए अत्यन्त तीव्र आकांक्षा या व्याकुलता को ही उत्कण्ठा कहा जाता है । यह उत्कण्ठा या व्याकुलता ही भक्ति का प्राण है । उत्कण्ठा ही भक्त के अभीष्ट सिद्धि का महासाधक है । श्रीमन्महाप्रभु, जीव शिक्षा के लिए, नीलाचल लीला में जो आर्त्ति-उत्कण्ठा दिखा गये हैं, वह अभीष्ट प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित साधकों के समक्ष सुमेरु के समान आदर्श रूप में विराजमान है । यह अनन्तकाल तक साधकगणों को एक महाव्याकुलता से अनुप्राणित करती रहेगी ।

यदि हम किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये वास्तव में उत्कण्ठित होते हैं, तो वह वस्तु निश्चय ही पाते हैं, यह जिस प्रकार सत्य है; उत्कण्ठा विहीन होकर वस्तु पाने से हम उसका ठीक से आस्वादन भी नहीं कर पाते हैं, यह भी उसी प्रकार सत्य है । कारण यह है कि गर्मी से पीड़ित प्यासे व्यक्ति को स्वादिष्ट पेय अत्यन्त तृप्तिदायक अनुभव होता है, लेकिन जिसे



प्यास ही नहीं, उसे लेशमात्र भी पानी की आवश्यकता का कोई बोध ही नहीं होता है । साधन जगत से लेकर सिद्धिजगत तक, यहाँ तक कि नित्यसिद्धगणों को भी उत्कण्ठा की थोड़ी-बहुत आवश्यकता है । साधक के, भजनसम्पद् लाभ के लिए, उत्कण्ठित या व्याकुलित न होने से जिस प्रकार अनुरागमय भजन-जीवन लाभ नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार सिद्ध महात्मागणों को भी प्रेम के साथ उत्कण्ठा का योग (मेल) न होने से, भगवत्साक्षात्कार सम्भव नहीं होता है । नित्य-सिद्धगण भी प्रबल उत्कण्ठा के न उठने से कृष्ण को सम्यक् रूप से वशीभूत नहीं कर पाते ।

जिस प्रकार माँ यशोदा दामबन्धन लीला में श्रीकृष्ण को बाँधने के लिए उनके कटिदेश को बार-बार रस्सी से बाँधने पर भी उन्हें बाँध नहीं पाई, प्रत्येक बार रस्सी दो अँगुल कम हो जाती थी । श्रील गोस्वामिपाद कहते हैं कि हर बार रस्सी दो अँगुल कम होकर दो तत्त्वों की कमी की ओर संकेत करती है । "स्थितेऽपि प्रेम्णि वैभव्यविशेष तज्जात तत्कृपाविशेषाभ्यां द्वाभ्यामुनत्वेन तद्वशीकरणं न स्यात् । अतएव दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने इति वक्ष्यते" (भा०—१०।९।१५ श्लोक की वैष्णवतोषणी टीका ) । अर्थात् श्रीभगवान् को पूर्ण वशीभूत करने के लिए यदि परि-पूर्ण व्याकुलता या उत्कण्ठा न हो और यदि उस उत्कण्ठा के अभाव में श्रीभगवान् की कृपा का विकास न हो, तो ऐसा होने से प्रेम परिपूर्ण होते हुए भी इन दोनों के अभाव में प्रेमिक भक्त श्रीभगवान् को अपने वशीभूत करने में सक्षम नहीं होते हैं । श्रीभगवान् का वशीभूत करने के लिए भक्त में जिस परि-माण में व्यग्रता प्रकाशित होती है, श्रीभगवान् में भी उसके

वशीभूत होने के लिए उसी की व्यग्रता के अनुरूप कृपा का विकास होता है। जिसमें व्यग्रता या उत्कण्ठा प्रकाशित नहीं होती है, उसके प्रति श्रीभगवान् में भी कृपा का विकास नहीं होता है, इसलिए वह विशुद्ध प्रेमबल से वशीभूत के तुल्य करते हुए भी सम्पूर्णरूप से वशीभूत नहीं कर सकते; उसकी वशीकरण की कमी बराबर बनी ही रहती है। भक्त की उत्कण्ठा एवं कृष्ण की कृपा को छोड़कर अन्य किसी से भी इस अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। तभी तो बाद में जब यशोदा की व्यग्रता प्रकाशित हुई, तब उनके परिश्रम को देखकर श्रीकृष्ण की कृपा का भी विकास हुआ, और इस प्रकार बन्धन सम्पन्न हो गया।

भविष्योत्तर पुराण में देखा जाता है—श्रीराधारानी ने भी श्रीकृष्ण को बन्धन में बाँधा था। इसीलिए कहा जाता है श्रीराधा-दामोदर।

"संकेतावसरे च्युते प्रणयतः संरब्धया राधया,
प्रारभ्य भ्रुकुटीं हिरण्यरसनादाम्ना निबद्धोदरम्।
कार्त्तिक्यां जननीकृतोत्सववरे प्रस्तावनापूर्व्वकं,
चाटूनि प्रथयन्तमात्तपुलकं ध्यायेम दामोदरम्॥"

(भविष्योत्तर पुराण)

एक बार पुण्यमय कार्तिक मास में श्रीकृष्ण वासकसज्जिका श्रीराधा के कुंज में यथासमय पर उपस्थित न हो सके, विलम्ब से आने पर श्रीमती ने प्रणयरोष में भरकर भृकुटि संचालन पूर्वक कृष्ण को अपनी स्वर्णमय कटिबन्धन की रस्सी से बाँध दिया। श्रीकृष्ण के यह बताने पर कि माँ यशोदा के अनुष्ठित उत्सव के कारण उन्हें विलम्ब हुआ है,



श्रीमती ने उन्हें बन्धन मुक्त किया। श्रीमती राधारानी का प्रेम सदैव ही इतना विपुल उत्कण्ठा पूर्ण है कि उसमें कृष्ण कृपाजनित वश्यता का कभी अभाव नहीं होता है। श्रीमन्महाप्रभु उसी श्रीराधाभाव को अंगीकार कर सदा विशाल उत्कण्ठासिन्धु में सराबोर हैं तभी तो श्रीकृष्ण-माधुरी अशेष-विशेष आस्वादन करके भी इस उत्कण्ठा के तृष्णामय स्वभाव वश साधक के स्तर पर उतर कर प्रीति के साथ नाम-कीर्त्तन के सौभाग्य की कामना कर रहे हैं। साधक जगत् को शिक्षा दे रहे हैं कि जो अनुरागमय अथवा प्रीतिमय नाम-भजन से जीवन यापन कर रहे हैं, वे श्रीभगवान् को पाने की अपेक्षा उससे भी अधिक किसी साधन सम्पद् को पाकर धन्य हो रहे हैं।

प्रभु ने कहा—'हे भगवन्! मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा—जब तुम्हारे नाम कीर्त्तन के समय विगलित अश्रुधारा से मेरे नयन व्याप्त होंगे, गद्गद वाक्यों से कण्ठ रुद्ध होगा और मेरा समस्त देह पुलकित हो उठेगा।' प्रभु श्रीभगवान् के पास सप्रेम कीर्त्तन की कामना प्रकट कर रहे हैं। श्रीमन्महाप्रभु के श्रीमुख से उच्चारित शिक्षाष्टक के यह चार श्लोक ही श्रीनामसंकीर्त्तन विषयक हैं। कारण यह है उन्होंने इस कलियुग के युगधर्म नाम-कीर्त्तन द्वारा ही प्रेम का प्रचार करके विश्व मानव को धन्य कर दिया है। सब युगों में ही नामकीर्त्तन का समान प्रभाव एवं अतुलनीय महिमा रही है, सत्यादि युग के मनुष्यों की सहस्रो वर्षों की परमायु होती है और उसी के अनुरूप अटूट साधनशक्ति भी होती है, वे विश्वास ही नहीं कर पाते कि वे 'कृष्ण' नाम का जिह्वा से जरा सा स्पन्दन होते ही उस युग के ध्यान, तपस्या और अन्य कठिन साधनाओं की अपेक्षा करोड़ों-करोड़ों गुना फल लाभ करके धन्य हो सकते

हैं। इस कलियुग का मानव सभी प्रकार दुर्गत और साधन शक्ति हीन कहा जाता है, वह नाम की महिमा में अनायास ही विश्वास कर लेता है, इसलिए श्रीनाम भी अपनी महिमा का प्रकाश करके कलिकाल का युगधर्म हो गया। इसलिए इस कलियुग में नाम कीर्त्तन की महिमा प्रचार के द्वारा ही भक्त-गणों की परम भगवत्परायणता सिद्ध होती है। "तदेवं कलौ नामकीर्त्तनप्रचारप्रभावेनैव परम भगवत्परायणत्व सिद्धि-र्दर्शिता।" ( भक्तिसंदर्भः—२४ अनु० )।

हमने कहा है कि—अपराधदुष्ट जिह्वा में श्रीकृष्णनाम के रसमाधुर्य के आस्वादन की अनुभूति नहीं होती है। श्रीमद्-भागवत कहती है—इतने मधुर श्रीहरिनाम के ग्रहण करने से जिसका हृदय द्रवीभूत नहीं होता, नयन अश्रुपूर्ण नहीं होते और रोमसमूह आनन्द से पुलकित नहीं होते—हाय उसका हृदय लौह के समान कठोर है।

"तदश्मसारं हृदयं बतेदं,
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो,
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥"
( भा०—२।३।२४ )

श्रीमन्महाप्रभु इस श्लोक में अश्रु, पुलक और स्वरभेद इन तीन प्रकार के भावों के साथ नामकीर्त्तन की प्रार्थना श्रीभगवान् के चरणों में ज्ञापित कर रहे हैं। श्रीकृष्ण सम्ब-न्धीय दास्य- सख्य आदि पाँच प्रमुख रति के द्वारा साक्षात्भाव से और हास्य-करुणादि सात गौणरति द्वारा किंचित् व्यवधान



से आक्रान्त चित्त को पण्डित गण **'सत्त्व'** कहते हैं। इससे समु-त्पन्न भाव समूह को **'सात्त्विक'** भाव कहा जाता है।

"कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात् किंचित् व्यवधानतः ।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः ॥
सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये ये भावास्ते तु सात्त्विकाः ॥"
( भ० र० सि०—२।३।१-२ )

यह सात्त्विक भाव समूह आठ प्रकार के हैं—

"ते स्तम्भ-स्वेद-रोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु-प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥"
( ऐ—२।३।१६ )

अर्थात् 'स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण, अश्रु और पुलक यह आठ प्रकार के सात्त्विक भाव हैं। इनमें से स्वरभेद, रोमांच और अश्रुः तीन सात्त्विक भावों के साथ नाम कीर्त्तन की प्रार्थना महाप्रभु बतला रहे हैं। वास्तव में भागवती रति ही सर्वानन्द चमत्कारिता का कारण है, रति ही इसलिए श्रेष्ठ भाव है। रति को छोड़ यह समस्त भाव देह में प्रकट होने पर भी उसको सात्त्विक भाव नहीं कहा जा सकता; इसलिए वे उपादेय और आस्वाद्य नहीं है।

"सर्व्वानन्द चमत्कारहेतुर्भावो वरो रतिः ।
एते हि तद्विना भावान्न चमत्कारिताश्रयाः ॥"
( ऐ—२।३।७० )

अभ्यासपरायण, पिच्छिल अन्तःकरण व्यक्ति में, भुक्ति-मुक्ति-कामिगणों में नाम कीर्त्तन-श्रवण आदि के समय यह सब अश्रु, पुलक आदि सात्त्विक भाव साधारणतः दृष्टिगोचर होते हैं, लेकिन मूलरूप में इन्हें सात्त्विक भाव नहीं कहा जा सकता,

यह सात्त्विकाभास हैं और इनके आस्वादन में कोई चमत्कारिता नहीं है। श्रील गोस्वामिपाद लिखते हैं— यह सब सात्त्विक भाव जातरति साधक के साधारण अथवा वाह्य लक्षण हैं। इनको छोड़कर इनमें नौ असाधारण अथवा आन्तरिक लक्षण रहते हैं। इन लक्षणों के चित्त-मन में उदय होते ही रति के आविर्भाव का अनुमान लगाया जाता है।

"क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदारुचिः॥
आसक्तिस्तद्‌गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने॥"
( ऐ—२।३।७० )

अर्थात् भाव या रति का अंकुरमात्र जिसमें उत्पन्न होता है, उसमें निम्नलिखित अनुभाव समूह प्रकाशित होते हैं।

(१) क्षान्ति (२) अव्यर्थकालत्व (३) विरक्ति (४) मानशून्यता (५) आशाबन्ध (६) समुत्कण्ठा (७) **नामगाने सदा रुचि** (८) भगवद्‌गुणानुवाद में आसक्ति (९) भगवत् वासस्थलों में प्रीति।

**क्षान्ति** :— "क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मा" ( भ० र० सि०—१।३।२४ ) क्षोभ का कारण उपस्थित रहने के बावजूद अक्षोभता ही क्षान्ति है। भक्त की पुत्रशोक हो या देहनाश का कारण उपस्थित हो गया हो, इससे क्षोभ होना तो स्वाभाविक है, किन्तु बुद्धिमान् भक्त देह-देहिकादि के नश्वरत्व ज्ञान के कारण सब कुछ ईश्वरेच्छा से होता है, इस ज्ञान से श्रीहरिस्मरण करते हुए धैर्य धारण कर लेते हैं। श्रील रूपगोस्वामिपाद महाराज परीक्षित का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—



"तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा, गंगा च देवी धृतचित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः॥"
( भा०—१।१९।१५ )

ब्रह्मशापग्रस्त महाराज परीक्षित बोले—'हे विप्रगण! आप सब लोग और गंगादेवी मुझे अब ईश्वर में अर्पितचित्त और शरणागत समझिये, ब्राह्मणकुमार प्रेरित कुहक या तक्षक आकर मुझे यथेष्ट दंशन करे, उससे क्षति नहीं है; आप लोग श्रीहरि गाथा का गान करें।' "एइ नव प्रीति अंकुर जार चित्त हय। प्राकृत क्षोभे तार क्षोभ नाहि हय॥" ( चै० च० )

**अव्यर्थकालत्व** :— जातरति भक्त सब समय भजन साधन लेकर रहते हैं। अर्थात् भगवद्‌विषयक श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि को छोड़ एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते हैं। "कृष्णसम्बन्ध-विना व्यर्थ काल नाहि जाय" ( चै० च० )। श्रील गोस्वामिपाद हरिभक्तिसुधोदय का दृष्टान्त दे रहे हैं— "वाग्भि स्तुवन्तो मनसा स्मरन्त-स्तन्वा नमन्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः। भक्ताः स्रवन्नेत्रजलाः समग्र-मायुर्हरेरेव समर्पयन्ति॥" भक्तगण सदैव वाक्य द्वारा श्रीहरि का स्तव, मन द्वारा स्मरण, और देह द्वारा प्रणाम करके भी तृप्त नहीं हो पाते हैं, वे अश्रु प्रवाहित करते-करते समस्त आयु श्रीहरि के चरणों में समर्पण कर देते हैं।

**विरक्ति** :— विश्व के जड़ीय रूप-रसादि विषयों के ग्रहण करने में चक्षु-कर्ण आदि इन्द्रियों की आरोचकता को विरक्ति कहते हैं।

"विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम्।' (भ० र०सि० १।३।३०) विष्ठा आदि वीभत्स पदार्थ या वस्तु को देख

कर मनुष्य में जिस प्रकार घृणा का उद्रेक होता है, उसी प्रकार भगवान् के चिन्मय रूप-गुणादि से प्रलुब्ध अथवा आसक्त भक्त का जड़ीय भोग्य वस्तुओं में घृणा का उद्रेक हो जाता है। "भुक्ति-मुक्ति इन्द्रियार्थ तारे नाहि भाय।" ( चै० च० )

"यो दुस्त्यजान् दार-सुतान् सुहृद् राज्यं हृदि स्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तमःश्लोकलालसः ॥" (भा०—५।१४।४३)

"राजर्षि भरत श्रीहरिचरणों में लुब्धचित्त होकर यौवनकाल में ही स्त्री, पुत्र, सुहृद् और राज्य इत्यादि दुस्त्याज्य समस्त विषयों को विष्ठा के समान हेय जानकर अनायास ही परित्याग कर दिये थे।"

**मानशून्यता** :—"उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं कथिता मानशून्यता।" ( भ०र०सि०—१।३।३२ )। उत्कृष्टता होते हुए भी जहाँ अभिमान हीनता हो, उसे ही मानशून्यता कहते हैं।

"सर्वोत्तम—आपनाके हीन करि माने।" ( चै०च० )

"हरौ रति वहन्नेष नरेन्द्राणां शिखामणिः।
भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि वन्दते ॥"
( पद्मपुराण )

राजा भगीरथ नृपेन्द्र-शिरोमणि होकर भी श्रीहरि से अनुरक्तता वहन करते हुए शत्रु के घर से भी भिक्षा करते थे और चण्डाल पर्यन्त वन्दना करते थे।

**आशाबन्ध** :—"आशाबन्धो भगवतः प्राप्ति सम्भावना दृढ़ा।" ( भ०र०सि०—१।३।३४ )। 'श्रीकृष्णप्राप्ति की दृढ़ सम्भावना को ही आशाबन्ध कहा जाता है।' "कृष्ण कृपा



करिबेन दृढ़ करि जाने।" ( चै०च० )। श्रील सनातनगोस्वामिपाद की प्रार्थना—

"न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथवा वैष्णवो,
ज्ञानं वा शुभकर्म्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाप्यच्छेद्यमूला सती,
हे गोपीजनवल्लभ! व्यथयते हा हा मदाशैव माम् ॥"

हे गोपीजनवल्लभ ! मुझ में प्रेम नहीं है, श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्ति साधन का अभाव है, वैष्णवयोग अर्थात् ध्यान धारणा आदि भी नहीं है; भगवन्निष्ठ-ज्ञान, शुभकर्म और वैष्णव-परिचर्या के उपयुक्त जाति भी नहीं है। फिर भी दीन हीन व्यक्ति के प्रयोजन साधन के लिए आप अत्यन्त दयालु हैं; यह जानकर—आप की प्राप्ति के लिए अच्छेद्यमूला आशा ही मुझे व्यथा दे रही है। अर्थात् किसी प्रकार भी तुम्हारी कृपा प्राप्ति की आशा को छोड़ नहीं पा रहा हूँ" "अपना आयोग्य देखि मने पाउँ क्षोभ तथापि तोमार गुणे उपजाय लोभ ॥" ( चै० च० )

**समुत्कण्ठा** :— "समुत्कण्ठा हय सदा लालसा प्रधान" (चै० च०)। स्वाभीष्ट प्राप्ति के विषय में गुरुतर लोभ को ही समुत्कण्ठा कहा जाता है। 'समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता।" ( भ० र० सि०—१।३।३६ )।

"तच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि,
मच्चापलञ्च तव वा मम वाधिगम्यम्।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि,
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम्॥"
(श्रीकृष्णकर्णामृतम्—३२)

हे नाथ ! 'तुम्हारी कैशोर-माधुरी और मेरा चापल्य दोनों ही तीनों भुवनों में अद्भुत हैं, यह केवल तुम्हारे और मेरे ज्ञान का विषय है, इसलिए आँखों द्वारा तुम्हारे इस विरल मुरलीविलासी मनोहर मुख कमल के दर्शन के लिए मैं क्या करूँ, तुम्ही बताओ ।'

**नामगाने सदा रुचि :**— "नाम गाने सदा रुचि लय कृष्ण नाम ( चै० च० ) ।" निरन्तर नाम कीर्त्तन की अभिलाषा उत्पन्न होती रहे ।

"रोदनविन्दुमरन्दस्यन्दि दृगिन्दीवराद्य गोविन्द ।
तव मधुरस्वरकण्ठी गायति नामावलीं बालाम् ।।"

"हे गोविन्द ! आज बाला राधा नयनों से अश्रुविन्दु गिराती हुई तुम्हारी नामावली का ही गान कर रही है ।"

**तद्गुणाख्याने आसक्ति :**— भक्त की सदा ही भगवद् गुणाख्यानों में आसक्ति प्रकाशित होती है । "कृष्णगुणाख्याने हय सर्वदा आसक्ति ।" ( चै० च० ) ।

"मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो ,
मधुरं मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो ,
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ।।"
(श्रीकृष्णकर्णामृतम्-९२)

श्रीविल्वमंगल ठाकुर श्रीकृष्ण के गुणानुवाद में अत्यन्त आसक्ति प्रकाशित करते हुए कहते हैं— "अहो ! श्रीकृष्ण का देह मधुर से भी मधुर है अर्थात् अति सुमधुर, मुख मधुर मधुर मधुर अर्थात् अतिशय सुमधुर, मधुर सौरभ युक्त उनका मृदुमन्द हास्य मधुर मधुर मधुर मधुर अर्थात् अनन्त सुमधुर ।।"



श्रीकृष्ण के रूप और माधुर्य के गुणों का वर्णन करने की कोई भाषा न पाकर विल्वमंगल ठाकुर बारम्बार मधुर शब्दों की आवृत्ति कर रहे हैं, यह श्रीकृष्ण के गुणों के कथन में उनकी विपुल आसक्ति का ही परिचायक है ।

**तद्वसति स्थले प्रीति :**—इसी प्रकार जातरति साधक की श्रीकृष्ण के धाम में प्रीति प्रकाशित होती है । "कृष्णलीला स्थाने करे सर्व्वदा वसति ।" ( चै०च० )

"कदाहं यमुनातीरे नामानि तव कीर्त्तयन् ।
उद्वाष्पः पुण्डरीकाक्ष रचयिष्यामि ताण्डवम् ।।"
( भ०र०सि०—१।२।१५६ )

"हे कमललोचन ! मैं कब वाष्परुद्ध कण्ठ से यमुना के किनारे ताण्डव नृत्य की रचना करूँगा ।" चित्त और मन में इन उपर्युक्त लक्षणों का थोड़ा-बहुत उदित होना और बाह्य रूप से नाम-कीर्त्तन से यदि अश्रु पुलकादि विकार प्रकाशित हो, तभी उसको वास्तव में सात्त्विक भाव कहा जायेगा और तुरन्त नाममाधुरी आस्वादन की चमत्कारिता प्रकाशित होगी ।

भक्त आर्त्ति या व्याकुलता के साथ नाम कीर्तन करने से श्रीनाम की कृपा से शीघ्र ही उसी प्रकार की भावदशा प्राप्त करके धन्य और कृतार्थ हो जाता है । श्रीमद् सनातन गोस्वामिपाद ने लिखा है—

"नाम्नान्तु संकीर्त्तनमार्त्तिभारान्मेघं
विना प्रावृषि चातकानाम् ।
रात्रौ वियोगात् स्वपते रथां-
गीवर्गस्य चाक्रोशनवत् प्रतीहि ।।"
( वृहद्भागवतामृतम्—२।३।१६७)

अर्थात् "सारी ग्रीष्मऋतु में चातक पक्षिगण जिस प्रकार प्यासे शुष्क कण्ठ बने रहकर वर्षाकाल के बादलों की प्रतीक्षा करते रहते हैं, और वर्षाकाल में बादलों को देखकर जिस प्रकार अत्यन्त आर्त्तनाद पूर्वक आकाश की ओर दौड़ते हैं, रात्रिकाल में पति के वियोग में विधुरा चक्रवाकी और कुररी (वाज) पक्षिगण जिस प्रकार करुण कण्ठ से विलाप करते हैं; उसी प्रकार अनुरागी भक्तगण भी कृष्ण विरह में कातर प्राणों से 'हरेकृष्णादि' आह्वानात्मक कीर्त्तन करते हैं।" विरह-व्याकुल प्राणों से इस प्रकार आर्त्तियुक्त नाम-कीर्त्तन से अवश्य ही रति या प्रेम का उदय सम्भव है, इसके वावजूद भी साधक-गणों को इस भाव से नाम कीर्त्तन करना होगा; कारण यह है कि सिद्ध का जो लक्षण होता है, साधक की वही साधना होती है। "सिद्धस्य लक्षणं यत् स्यात् साधन साधकस्य तत्।" साधक का साधन-प्रयत्न होता है—निरपराध होकर नामानु-शीलन। निरपराध चित्त में नामकीर्त्तन शीघ्र ही नामप्रेम और इन सब सात्त्विक भावों को अवश्य ही पूर्णरूपेण प्रकट करता है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने लिखा है—

"एक कृष्णनामे करे सर्व्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥
प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद-कम्प-पुलकादि गद्गदाश्रुधार॥
अनायासे भवक्षय कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फले पाइ एत धन॥
हेन कृष्णनाम यदि लय बहु बार।
तबु यदि प्रेम नहे नहे अश्रुधार॥



तबे जानि अपराध ताहाते प्रचुर।
कृष्ण नाम बीज ताहे ना हय अंकुर॥
चैतन्य-नित्यानन्दे नाहि ए सब विचार।
नाम लइते प्रेम देन वहे अश्रुधार॥
स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु अत्यन्त उदार।
तारे ना भजिले कभु ना हय निस्तार॥"
(चै० च० आदि ८ म परिः)

श्रीचैतन्य-नित्यानन्द को अपराध का विचार नहीं है, ऐसा नहीं है। नाम भजन से प्रेम प्राप्ति के पथ में अपराध का विचार सर्वत्र है। महाप्रभु ने स्वयं अपनी माँ शचीदेवी के श्रीअद्वैतचरणों में अपराध को प्रेम प्राप्ति में बाधक कह कर उल्लेख किया था। तब प्रकटलीला में श्रीगौर-नित्यानन्द ने विश्व में ऊँच-नीच सभी लोगों को प्रेमदान के संकल्प हेतु इस प्रकार की करुणा का प्रकाश किया था कि उनके दर्शन से ही अपराधी के अपराध दूर हो जाते थे और उसको प्रेमप्राप्ति सुलभ हो जाती थी। यह प्रकट काल की बात ही श्रील कवि-राज ने कही है। तब प्रेमावतार श्रीगौर-नित्यानन्द के नाम-कीर्त्तन और स्मरण मनन से, उस उज्ज्वल आदर्श की स्मृति से अपराध की लाघवता और प्रीति सहित नाम कीर्त्तन के सौभाग्य लाभ जो शीघ्र ही होने लगते हैं इसमें और कुछ सन्देह नहीं है। इस विषय को मैं और स्पष्ट करके कह रहा हूं।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीराधा के भाव और महाविरहसिन्धु में रात्रि दिन डूबे रहकर और साक्षात् विरहरस की मूर्ति होकर भी प्रेम के अतृप्ति स्वभाव वश और जीव शिक्षा के

निमित्त अश्रु-पुलकादि भूषित देह से आर्त्तिसहित नाम-कीर्त्तन की कामना कर रहे हैं। विश्वमानव किसी विषय में जो सत् शिक्षा पाते हैं उसके पीछे एक आदर्श होना चाहिए। इस विषय में कलियुग में श्रीमन्महाप्रभु ही इस प्रकार के नाम कीर्त्तन के मूर्त्त आदर्श है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है, किन्तु शिक्षणीय विषय का कोई उच्च आदर्श आँखों से देख पाने से वह प्रत्यक्ष अनुभूति लाभ करके उस शिक्षा से सहज में ही अनुप्राणित हो सकता है।

एक स्थान पर एक युवक किसी योगी गुरु के पास ध्यान शिक्षा ग्रहण करता था। युवक पेशे से एक फल विक्रेता था। सारा दिन फल बेचने के बाद जब सन्ध्या के समय वह योगी के उपदेशित एक बालिश्त परिमाण परमात्मपुरुष का हृदय में ध्यान करता, तब सेव, केला, नीबू, अंगूर आदि फलों के चित्र ध्यान में उसके सामने आ जाते। विषयी मनुष्य का चित्त लाख के समान कठोर, नीरस और कड़ुवा होता है। लाख कठोर होते हुए भी अग्नि के सम्पर्क से कोमल हो जाता है और तब उसमें मोहर की छाप लगाने से वह लाख पर छप जाती है और फिर लाख के ठण्डे और कठोर हो जाने पर भी वह छाप नहीं जाती है, उसी प्रकार विषयी मनुष्य का चित्त विषय के सम्पर्क से जब पिघलता है, तो उसमें विषय की छाप लग जाती है; फिर विषय का सम्पर्क न रहने से भी छाप बराबर बनी ही रहती है, और आँखों के सामने घूमती फिरती है।

युवक ने अपने मन की अवस्था योगी को बताई तो वे बोले—अपने ध्यान के कमरे में केले, सेव आदि अन्य फलों



को लटका कर रक्खो। जब तुम आँख बन्द करोगे तो ध्यान के समय फलों के चित्र तुम्हारे सम्मुख आभासित होंगे, जब आँख खोलो तो उनको ही देखो और उन्हीं के बारे में सोचो, और प्रथम दिन जिन फलों को लटकाओ उन्हीं को लटका रहने दो, उन्हें बदलो नहीं। देखते-देखते कई दिनों के बाद वे फल गलकर नष्ट होने लगे। गुरु के आदेश से दुर्गन्धयुक्त, बीभत्स फलों को ही युवक देखने और चिन्ता करने लगा। अन्त में वे फल सड़-गल कर नष्ट हो गये। उस युवक ने उन्हें हटाकर स्थान को साफ किया और जाकर गुरुदेव को बताया कि अब तो नये फलों को लटकाये बिना ध्यान का अन्य कोई उपाय नहीं है। गुरुदेव बोले—अब और फलों को लटकाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में जिस दिन से फल दुर्गन्ध युक्त होकर उसके सामने प्रकटित हुए थे, उस दिन से ही उसका मन उनके ध्यान व चिन्तन के लिए राजी नहीं होता था। श्रीगुरुदेव ने कहा इसके बाद अब तुम सब ठीक से समझ गये होंगे और इष्ट का ध्यान अब सुगम होगा क्योंकि अब फलों के पहिले वाले आभासित चित्रों ने उसके ध्यान में आना बन्द कर दिया था।

योगी यदि युवक को यह कह देते कि फलों के परिणाम अत्यन्त बीभत्स और घृणास्पद हैं, इसलिए इनके ध्यान से कोई लाभ नहीं है, ऐसा होने से इसको "ज्ञान" कहा जाता है। किन्तु उन्होंने जिस प्रक्रिया के द्वारा फलों के बीभत्स रूप युवक की चक्षु नासिकादि प्रत्येक इन्द्रिय को अनुभव करा दिये, इसीको विज्ञान या अनुभव कहेंगे।

उसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों में अश्रु-पुलकादि सहित और प्रीति के साथ नाम कीर्त्तन का उपदेश दिया

गया है, यह नाम-संकीर्त्तन विषयक ज्ञान है, और श्रीमन्महाप्रभु स्वयं पार्षदगणों के साथ अत्यन्त अनुराग पूर्वक और अद्भुत सात्त्विक विकारों के साथ नाम संकीर्त्तन करके विश्व साधकगणों के सम्मुख जो मूर्त आदर्श प्रकाशित किये हैं, इसे अनुराग सहित नाम कीर्त्तन का विज्ञान कहेंगे। प्रभु नाम कीर्त्तन करते-करते चंचल चरणों से नृत्य करते हुए रास्ते पर चल रहे हैं, श्रीनयनों के प्रबल अश्रु-प्रवाह से श्रीअंग धुल कर पृथ्वी भीग जाती है, श्रीअंग में कदम्ब-केशर के समान पुलकावली, गद्गदकण्ठ से कृष्णनाम के एक-एक अक्षर के उच्चारण से न जाने कितना अमृतास्वादन लाभ कर रहे हैं। आजानुलम्बित भुज युगलों को ऊपर उठाकर उच्च कण्ठ से "हरि-हरि" बोल रहे हैं। चारों ओर से पार्षदगण श्रीगौर सुन्दर को घेरकर खोल-करताल के सहयोग से मधुर आवाज में नाम गान करते-करते चल रहे हैं। सभी के अंग विपुल अश्रु पुलकादि सात्त्विक विकारों से विभूषित हैं। नाम संकीर्त्तन रस जैसे मूर्तिमान् हो गया हो। इस भाव चित्र के साक्षात् दर्शन की बात तो दूर इसके स्मरण, मनन से भी मनुष्य का चित्त यदि नामरस से भावाकुल होकर पड़ जाये, तो इसमें विचित्रता ही कैसी। महाजन ने श्रीगौराङ्ग के इस सुमधुर कीर्त्तन रस का कैसा चमत्कारपूर्ण चित्र अपनी रचना में खींचा है—

"मधुर-मधुर गौर किशोर मधुर-मधुर नाट।
मधुर-मधुर सब सहचर मधुर-मधुर हाट।।
मधुर-मधुर मृदंग बाजत मधुर-मधुर तान।
मधुर रसे मातल भक्त गाओये मधुर गान।।
मधुर हेलन मधुर दोलन मधुर-मधुर गति।
मधुर-मधुर वचन सुन्दर मधुर-मधर भाति।।



मधुर-मधुर जिनि शशधर मधुर-मधुर हास।
मधुर आरति मधुर पिरिति मधुर-मधुर भाष।।
मधुर युगल नयन रातुल मधुर इंगिते चाय।
मधुर प्रेमेर मधुर बादरे वञ्चित शेखर राय।।"

अद्भुत संकीर्त्तन प्रेम की यह सुधा-मधुर रस-कादम्बिनी विश्व-साधकगणों के अन्तर को नित्य ही सिक्त कर रही है, अनन्तकाल तक करती रहेगी। तभी तो महाजन कहते हैं—

"श्रीचैतन्यमुखोद्गीर्णा: हरेकृष्णेति वर्णका:।
मज्जयन्तो जगत् प्रेम्णि विजयन्ते तदाह्वया।।"

प्रभु ने आलोचनीय छठे श्लोक की संक्षिप्त व्याख्या माधुरी स्वयं आस्वादन की—

"प्रेमधन विनु व्यर्थ दरिद्र जीवन।
दास करि वेतन मोरे देह प्रेमधन।।" (चै०च०)

प्रेम के बिना सात्त्विक विकारों से विभूषित देह में उक्त प्रकार नाम कीर्त्तन सम्भव नहीं है। इसलिए प्रभु प्रेमसिन्धु होकर भी प्रेम के अतृप्ति स्वभाववश श्रीकृष्ण से प्रेमधन चाह रहे हैं। प्रेम ही जीवन की प्रकृत सम्पत्ति है, प्रेम के बिना सब व्यर्थ है, अतएव प्रत्येक जीव को प्रेमधन अर्जित करने के लिए प्रयास करना चाहिए—प्रभु की इस मुखोक्ति का शिक्षा का यही सार है।६

**युगायितं निमिषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।**
**शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे।।७।।**

श्रीगोविन्द-विरह में क्षण काल भी मुझे युग के समान प्रतीत होता है, दोनों नेत्रों से वर्षा की धारा के समान निरन्तर अश्रु धारा चलती रहती है और सारा संसार शून्य

(खाली) प्रतीत होता है। साधकदशा से अचानक महाभाव-दशा के श्लोक का पाठ करने का कारण श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने निरूपित किया है—

"रसान्तरावेशे हैल वियोग-स्फुरण।
उद्वेग-विषाद-दैन्य करे प्रलपन॥" (चै०च०)

प्रेम की बात बोलते ही प्रभु का साधक भाव समाप्त हो गया और वे स्वाभाविक नीलाचल लीला में विरह-विधुरा श्रीराधा के भाव में आविष्ट हो गये। विरह भाव का स्फुरण होने से प्रभु का हृदय रूपी महाभावसिन्धु उद्वेग, विषाद, दैन्यादि संचारी भाव तरंगों से तरंगायित हो उठा। प्रभु इस प्रकार इस सातवें श्लोक का पाठ करते हुए प्रलाप करने लगे।

व्रजप्रेम और विशेषकर गोपीप्रेम में श्रीकृष्ण-विरह सर्वाधिक है। विरह की अधिकता ही गोपीप्रेम के महत्व का एक अन्यतम कारण है। प्रेम के दो ही कलेवर हैं—एक मिलन और दूसरा विरह। प्रेम ही जब विरह का उपादान है, तब मिलन के समान ही विरह में भी जो आनन्द या रस का आस्वादन है, इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर पायेगा। इसलिए विरह को भी रस कहा गया है और श्रील गोस्वामिपादगणों ने मिलनानन्द की अपेक्षा इस विरहरस की उपादेयता या आस्वादन चमत्कारिता प्रतिपादित की है।

"प्राग्यद्यपि प्रेमकृतात् प्रियाणां,
विच्छेददावानलवेगतोऽन्तः।
सन्तापजातेन दुरन्तशोका-
वेशेन गाढ़ं भवतीव दुःखम्॥
तथापि सम्भोगसुखादपि स्तुतः,
स कोऽप्यनिर्वाच्यतमो मनोरमः।



प्रमोदराशिः परिणामतोध्रुवं,
तत्र स्फुरेत्तद्रसिकैकवेद्यः॥
तच्छोकदुःखोपरमस्य पश्चा-,
च्चित्तं यतः पूर्णतया प्रसन्नम्।
सम्प्राप्तसम्भोगमहासुखेन ,
सम्पन्नवत्तिष्ठति सर्व्वदैव॥
इच्छेत् पुनस्तादृशमेव भावं,
क्लिष्टं कथञ्चित् तद्भावतः स्यात्।
येषां न भातीति मतेऽपि तेषां,
गाढ़ोपकारी स्मृतिदः प्रियाणाम्॥"
(बृहद्भागवतामृतम्–१।७।१२५-१२८)

श्रीकृष्ण ने देवर्षि नारद से कहा— 'हे देवर्षे! प्रियजनों की स्मृति से यद्यपि विरह प्रारम्भ में दावानल से भी अधिक तीव्र-ज्वाला और सन्ताप अन्तर में उत्पन्न करता है, और उससे असीम शोक और दुःख का प्रादुर्भाव होता है, तथापि वह दुःख परिणाम में अत्यन्त सुखस्वरूप कहा जाता है, क्योंकि वह अन्तर में मिलनानन्द की अपेक्षा भी कोई एक प्रशंसनीय व अनिर्वचनीय प्रमोदराशि की स्फूर्ति जगा देता है। अर्थात् यह दुःख प्रेम से उत्पन्न होता है इसलिए विरह-जनित गाढ़ दुःख की परिपाक दशासे भी प्रमोदराशि का उदय होता है—यह एकमात्र उसी प्रकार के रसिक जन ही जानते हैं। विरह जनित शोक दुःख शान्त होने पर चित्त सम्यक् रूप से प्रसन्न होकर मिलनानन्द-सम्पन्न होने के समान महासुख में अवस्थान करने लगता है। इस प्रकार अभीष्ट वस्तु की स्फूर्ति के लिए अन्तःकरण सदैव पूर्णरूप से प्रसन्न होता है। इसलिए विरह-विधुर-चित्त महाशोक से दुःखी रोदनरूप भाव के स्था-

यित्व की इच्छा करता है और विरहजनित शोकादि आर्त्ति भाव का अभाव होने से चित्त में अत्यन्त दु:ख का उदय होता है। जिसके विचार में विरह दु:ख रुचिकर नहीं है, प्रियजनों की प्रगाढ़ स्मृति प्रदान करता है। इसलिए वे भी विरह को मन में परमोकारी ही मान कर रखते हैं।

श्रील सनातन गोस्वामिपाद मिलनानन्द की अपेक्षा-स्तवनीय कृष्ण-विरह जनित आनन्द को "कोऽप्यनिर्व्वाच्य-तमो" कहकर टीका में इस विषय का स्वयं ही सिद्धान्त निरूपित करते हैं— "ब्रह्मानन्दोऽनिर्व्वाच्यस्तस्मादप्याधिक्येन, भजनानन्दोऽनिर्व्वाच्यतर:, तत्र च प्रेमानन्दोऽनिर्व्वाच्यतम:, तत्रापि विरहार्त्तिद्वारा जात: सन् परमान्त्यकाष्ठाविशेषप्राप्त्या परम महानिर्व्वाच्यतम इत्यर्थ:।" अर्थात् ब्रह्मानन्द को श्रुति अतिवाच्य कहकर उल्लेख करती है— 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इसलिए ब्रह्मानन्द अनिर्वाच्य है, भजनानन्द ब्रह्मानन्दी के चित्तको भी आकर्षित करता है इसीलिए अनिर्वाच्यतर है, भजनानन्द ही सान्द्र या गाढ़ा होने से प्रेमानन्द होता है इसीलिए प्रेमानन्द अनिर्वाच्चतम है,यही प्रेमानन्द फिर विरह और आर्त्ति के सहयोग से चरमसीमा प्राप्त करता है इसलिए विरह जनित प्रेमानन्द को परम महाअनिर्वाच्यतम कहा जाता है।

विरह जनित दु:ख या ज्वाला बाहर से दु:ख के समान प्रतीत होते हुए भी मूलस्वरूप में वह सुख या आनन्द की पराकाष्ठा है, श्रील गोस्वामिपाद टीका में दृष्टान्त के साथ इसकी भी युक्ति दिखा रहे हैं— "यथाग्नि-प्रतियोगिघनहिमादि-स्पर्शेन पादाद्यंगेषु जायमान-परम-महाजाड्यस्य ज्वलदंगार-स्पर्शवदभिज्ञा स्यात्। तत्र हि यथांगारस्पर्शप्रतीति मिथ्या



परममहाजाड्यमेव सत्यम्, तथात्रापि दु:खस्य प्रतीतेर्मिथ्या-त्वमेव सुखस्यैव सत्यत्वं विज्ञेयम्।" अर्थात् अग्नि-प्रतियोगी बरफ-खण्ड के स्पर्श से हाथों-पैरों में अत्यधिक शीत के कारण अग्नि के स्पर्श के समान ज्वाला ( जलन ) का अनुभव होता है, लेकिन उस स्थान पर अग्नि स्पर्श पूर्णरूपेण मिथ्या है, उसके परम प्रतियोगी बर्फ का स्पर्श ही सत्य है। उसी प्रकार भगवद्विरह में जो दु:ख की प्रतीति होती है, वह भी पूर्णरूपेण मिथ्या है। घनीभूत परमानन्द को ही सत्य मानना होगा। तभी तो घनीभूत आनन्द ही भगवद्विरह जनित दु:ख का यथार्थ स्वरूप है। तभी तो महाजन कहते हैं—

"संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्या:।
संगे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥"

अर्थात् कृष्णमिलन और विरह में से विरह को ही श्रेष्ठ कहा जायेगा, क्योंकि मिलन में एकाकी कृष्ण को पाया जाता है, विरह में त्रिभुवन कृष्णमय हो जाता है। संसार में मनुष्य का मनुष्य के साथ वियोग मात्र दु:खमय है, केवल कृष्णविरह ही परमानन्दस्वरूप है। "कृष्ण" कहकर रोने में जो आनन्द है, वह जिन्होंने कृष्ण करकर कभी रोया नहीं, वे क्या जानें।

"एइ प्रेमा जार मने तार विक्रम सेइ जाने
जेन विषामृते एकत्र मिलन।
बहिर्विष-ज्वाला हय अन्तर आनन्दमय
कृष्णप्रेमार अद्भुत चरित॥" ( चै०च० )

नीलाचल लीला में श्रीमहाप्रभु का श्रीराधा-विरह-रस ही स्थायी भाव है। हृदय के अन्तस्तल को भेदकर गम्भीरा में प्रभु का जो यातना का स्रोत प्रकाशित होता था, मर्मज्ञ

श्रीस्वरूप दामोदर व रामानन्द राय का कण्ठ पकड़कर प्रभु उस यातना का कुछ अंश प्रकाशित करते थे। इस भाव में कितने दिन और कितनी रातें कट जाती थीं। राधाभाव में उन्हें सखी जानकर उनका कण्ठ पकड़ कर कहते थे—सखि! प्राणनाथ श्रीकृष्ण मेरी उपेक्षा करके कहाँ चले गये? सखि! मुझे यह क्या हो गया है? कृष्णविरह में चारों ओर अंधकार ही दीख रहा है। सखि! मेरा एक-एक क्षण सौ-सौ युगों के समान विशाल हो रहा है। यह असहनीय ज्वालामय समय किस प्रकार व्यतीत करूँ? मुझे बतलाओ। किसी समय श्रीकृष्ण को पाने के उद्देश्य से आकाश की ओर देखकर कहते थे—

"तोमार दर्शन विने अधन्य एइ रात्रि-दिने,
एइ काल ना जाय काटानो।
तुमि अनाथेर बन्धु अपार करुणासिन्धु,
कृपा करि देह दरशन॥" (चै०च०)

इस श्लोक में प्रभु कह रहे हैं—**युगायितं निमेषेण'** गोविन्द विरह में एक-एक क्षण युग के समान लम्बा हो रहा है। क्षणकल्पता, निमेषासहता इत्यादि महाभाव के ही लक्षण हैं। रूढ़ महाभाव के लक्षणों में देखा जाता है कि—

"निमेषासहतासन्नजनताहृद्विलोड़नम्।
कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत्सौख्येऽप्यार्त्तिशंकया॥
मोहाद्यभावेऽप्यात्मादि सर्व्वविस्मरणं सदा।
क्षणस्य कल्पतेत्याद्या यत्र योगवियोगयोः॥"

अर्थात् "इस महाभाव में एक-एक क्षण की असहिष्णुता, आसन्न व्यक्तियों का हृदय-विलोड़न, कल्पक्षणत्व, श्रीकृष्ण के



सुख में भी दुःख की शंका से क्षीणता, मोहादि के अभाव में भी आत्मादि सर्व विस्मरण और क्षणकल्पता इत्यादि अनुभाव यथायथ योग और वियोग दोनों में ही दृष्टिगोचर होते हैं।" अधिरूढ़ भाव में यह सब और भी समधिक विकसित होते हैं। प्रभु श्रीराधा के अधिरूढ़ महाभाव की चरमावस्था दिव्योन्माद की रस-माधुरी नीलाचल लीला में आस्वादन कर रहे हैं। इसलिए विरहावस्था में महाभाव के सब लक्षण उनमें उत्कर्ष पा रहे हैं।

दुःख का समय कुछ लम्बा या बड़ा प्रतीत होने लगता है। इस विषय में संसार में भी कुछ ऐसा ही अनुभव देखने में आता है। देह में भीषण पीड़ादायक कोई कष्ट होने से उस दुःख भोग की रात्रि बहुत लम्बी प्रतीत होने लगती है, किसी प्रकार भी वह रात्रि काटे नहीं कटती है। इसीलिए यह बात कही जाती है कि दुःख का समय दुरतिक्रमणीय होता है। महाभावदशा में श्रीकृष्ण-विरह ज्वाला इतनी अपरिसीम होती है कि एक छोटा सा क्षण भी युगों के समान लम्बा लगता है। संसार के सुख-दुःख की अनुभूति के साथ इस कृष्ण-मिलन और विरह जनित अपरिसीम सुख दुःख के अनुभूति की कोई धारणा नहीं दी जा सकती है। कृष्ण विरह ज्वाला के समक्ष कोटि दावानल, बड़वानल, महाकालकूट की तीव्र ज्वाला सभी अत्यन्त तुच्छातितुच्छ हैं।

"उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो,
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढ़विसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्म्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥"
(ललितमाधव नाटक—३।२८)

श्रीराधारानी ललिता से कह रही हैं—सखि ! गोकुल-पति का विच्छेद जनक ज्वर धातु गलाने के पात्र से भी अधिक गर्मी प्रदान करने वाला है, विषों से भी अधिक क्षोभजनक, वज्र से भी अधिक असहनीय, हृदय में लगने वाले शैल से भी अधिक कष्टदायक एवं विसूचिका रोग से भी अधिक तीव्रतर है। सखि ! इस विच्छेद ज्वर ने मेरा मर्मस्थल छिन्न-भिन्न कर दिया है। वह महाज्वालामयी अवस्था प्रेमी के अति छोटे से छोटे क्षण को भी इतना असहनीय कष्टदायक बना देती है कि वह क्षण युग के समान लम्बा प्रतीत होने लगता है।

"तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता, मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्द्धवत्ताः पुनरंग तासां, हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥"
(भा०—११।१२।११)

श्रीकृष्ण ने कहा –"हे उद्धव ! गोपीगणों का प्रियतम यानि मैं जब वृज में था, तब मेरे साथ उनकी वह रात्रि क्षण-काल के समान प्रतीत होती थी, मेरे बिना उनकी वही रात्रि कल्प के समान बड़ी प्रतीत होती है।" प्रभु श्रीगौरसुन्दर ने पुनः कहा—'**चक्षुषा प्रावृषायितम्**' गोविन्द के विरह में मेरे दोंनो नेत्र श्रावण की वर्षा-धारा के समान अश्रु बहा रहे हैं।' श्रीकृष्ण के विरह में उसी प्रकार प्रेमी के नयनो में जैसे वर्षा के बादल एकत्रित हो गये हों, लगातार अश्रुधारा ही उसका साथी हो। हृदय तटिनी में जो शोक-उच्छ्वास उद्वेलित हो उठा है, निरन्तर रोदन, अश्रुजल और विलाप को छोड़ उसके आत्मभार मोचन का और कोई उपाय ही नहीं रहता है। निरन्तर रोदन करने से विरही, वर्षा को अविरल धारा के समान, अश्रुजल से धरती को सिंचन करता है। अतएव उस



निदारुण विरह-विलाप की सीमा-परिसीमा को नहीं पाया जा सकता है। विरहिणी सखी का कण्ठ पकड़ कर कहती है—

"शुनलहुँ माथुर चलव मुरारि।
चलतहि पेखलुँ नयन पसारि॥
पालटि नेहारिते हाम रहु हेरि।
शूनहि मन्दिरे आयलुँ फेरि॥
देख सखि निलज जीवन शेय।
पिरिति जानायत अब घन रोय॥
सो कुसुमित वन कुञ्ज-कुटिर।
सो यमुना जल मलय-समीर॥
सो हिमकर हेर लागये चंक।
कानु-विने जीवन केवल कलंक॥
एतदिने जानलुँ वचनक अन्त।
चपल प्रेम थिर जीवन दुरन्त॥
ताहे अति दुरजन आश कि पाश।
सम्बादि ना आयत गोविन्ददास॥"

वर्षा के बादल पानी बरसाने के बाद जब रिक्त होने लगते हैं तो उनके स्थान पर पानी से भरे नये बादल आकर पानी को लगातार बिना रुकावट के बरसाते रहते हैं, उसी प्रकार कृष्णविरहिणी गोपिका का रोने के लिए आक्षेप जागता है, फिर ब्रज की अप्राकृतिक शोभा पूर्वमिलन की मधुर स्मृति अन्तर में जाग कर प्राण को अत्यन्त वेदनायुक्त कर देती है। देह-त्याग का संकल्प भी सफल नहीं होता है, क्योंकि पुनः कृष्णप्राप्ति और कृष्णसेवा की दुरन्त आशा को किसी प्रकार भी छोड़ा नहीं जा सकता है। फिर हृदयाकाश में विरह का

नवीन मेघ उमड़ पड़ता है। गोपिका श्रेष्ठ श्रीराधा का यही भाव प्रभु की अविरल अश्रु धारा का मूल स्रोत है।

प्रभु ने और भी कहा है—'**शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द विरहेण मे**' गोविन्द के विरह में सारे संसार में मुझे शून्यता का बोध हो रहा है। यह शून्यता या रिक्तता गोविन्द को छोड़कर विश्व की प्राकृत या अप्राकृत किसी भी वस्तु की प्राप्ति से पूरी होने वाली नहीं है। संसारिक विषय का अभाव तुच्छ विषय सुखप्राप्ति से ही पूर्ण हो जाता है, किन्तु उस विभुवस्तु के निमित्त अभाव जिसके चित्त में जागरित होता है, वह अभाव या शून्यता वह भूमावस्तु ही पूर्ण कर सकती है। फिर भूमावस्तु में भी माधुर्यमूर्ति गोविन्द का अभाव उन्हें छोड़ अन्य कोई भगवत् स्वरूप भी पूर्ण करने में सक्षम नहीं है।

"यस्योत्तंसः स्फुरति चिकुरे केकिपुच्छप्रणीतो,
हारः कण्ठे विलुठति कृतः स्थूलगुञ्जावलीभिः।
वेणुर्वक्त्रे रचयति रुचिं हन्त! चेतस्ततो मे,
रूपं विश्वोत्तरमपि हरेर्नान्यदंगी करोति ॥"
( ललित माधव नाटक—६।३ )

नववृन्दावन में श्रीराधा ने वकुला से कहा—"सखि! जिसके केश कलाप में शिखिपिच्छ-निर्मित मुकुट शोभा पा रहा है, स्वस्थ गुंजावलि-रचित हार जिसके गले में झूल रहा है, जिसके श्रीमुख में वेणु शोभा पा रही है—श्रीहरि के इस प्रकार के रूप से भिन्न अन्य कोई भी रूप अलौकिक होने पर भी मेरा चित्त उसे स्वीकार नहीं करेगा।

"गोपिकाभावेर एइ सुदृढ़ निश्चय।
व्रजेन्द्रनन्दन-बिना अन्यत्र ना हय ॥



श्यामसुन्दर शिखिपिच्छ गुंजाविभूषण।
गोपवेश त्रिभंगिम मुरलीवदन ॥
इहा छाड़ि कृष्ण यदि हय अन्याकार।
गोपीभाव नाहि जाय निकटे ताहार ॥"
( चै०च० आदि—१७ वाँ परि० )

गोपिका-शिरोमणि श्रीराधारानी के भाव में कृष्णविरह में महाप्रभु का संसार शून्य है। विरहिणी श्रीराधा के चित्त की शून्यता का सुन्दर चित्रण श्रील ठाकुर विद्यापति ने किया है।

"अब मथुरापुर माधव गेल।
गोकुल-माणिक को हरि नेल ॥
गोकुले उछलल करुणाक रोल।
नयनक जले देख बहये हिलोल ॥
**शून भेल मन्दिर, शून भेल नगरी।**
**शून भेल दशदिश, शून भेल सगरी ॥**
कैसने जाओब यमुना-तीर।
कैसे निहारब कुञ्ज-कुटीर ॥
सहचरी संगे करल फुलवारि।
कैसे जीयब हम ताँहि निहारि ॥
विद्यापति कहे—'कर अवधान।
कौतुके छापि' तहि रहु कान ॥" (पदकल्पतरु)

माथुर-विरहिणी श्रीराधा को श्रीकृष्ण के विरह में घर, नगर, दसोदिशायें यहाँ तक कि सारा संसार शून्य अनुभव हो रहा है। और फिर वृन्दावन की हर वस्तु में सब जगह श्रीहरि की स्मृति स्पष्ट दीखती है। हर दिशा में दृष्टिपात करते ही

श्रीहरि के उद्दीपन से वह रिक्तता और भी प्रबल रूप धारण करती है। श्वास रुद्ध होने लगता है। तब ऐसा लगता है कि जैसे देह धारण करना ही कठिन हो जायेगा। फिर भी कृष्ण सेवा के लिए बच के रहना होगा। महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्र के विरह में प्राण त्याग दिये थे। किन्तु श्रीनन्द-महाराज प्राण त्याग की बात सोच भी नहीं सकते थे, चाहे श्रीकृष्ण-विरह कितना भी हो, उनको तो बचकर रहना ही होगा। कारण यह है कि उन्हें आभास है कि उनके वियोग में उनका गोपाल पितृहीन होकर कितना दुःख पायेगा। वृज-सुन्दरीगणों की तो देह ही कृष्ण सेवा के निमित्त है। इसलिए उसके वियोग में कृष्ण को कितना कष्ट होगा, यह तो सोचा ही नहीं जा सकता—कहीं ऐसा न हो कि उसके विरह में श्रीकृष्ण भी देह धारण करने में असमर्थ हो जाये।

"प्रिया प्रियसंगहीना, प्रिय प्रियासंग बिना,
नाहि जीये ए सत्य प्रमाण।
मोर दशा शुने यवे, तार एइ दशा हवे,
एइ भये दोंहे राखे प्राण ॥" (चै०च०)

कारण यह है कि एक ओर जिस प्रकार निदारुण विरह में प्राण धारण करना भी कठिन है, दूसरी ओर मरने का भी कोई उपाय नहीं, लगातार विरह ज्वाला में हृदय धक-धक जल रहा है। इस प्रकार के कठिन दुःख-संकट में ही प्रत्येक मुहूर्त विरही को युग के समान प्रतीत होता है, दोनों नेत्र वर्षा के बादलों के समान निरन्तर अश्रुधारा बहा रहे हैं और सारा संसार शून्य मालूम पड़ रहा है। बाहर इस प्रकार की विरह ज्वाला का अनुभव हते हुए भी, अन्तर में प्रबल आनन्द का स्रोत बहता



रहता है, यह रहस्य एकमात्र उसे ही ज्ञात होता है। राधा-भाव में प्रभु बराबर इस अद्भुत आनन्द-वेदना के समुद्र में पड़े हुए हैं।

"एइमत दिने दिने स्वरूप-रामानन्द-सने,
निजभाव करेन विदित।
वाह्ये विषज्वाला हय भितरे आनन्दमय
कृष्ण प्रेमार अद्भुत चरित ॥
एइ प्रेमार आस्वादन, तप्त-इक्षु-चर्वण
मुख ज्वले ना जाय त्यजन।
सेइ प्रेमा यार मने, तार विक्रम से-इ जाने,
विषामृते एकत्र मिलन ॥"
(चै०च० मध्य—२ य परि०)

"आपने करि आस्वादने, शिखाइल भक्तगणे" (चै०च०)

प्रभु ने स्वयं इसी ब्रज-प्रेम के विरहरस का आस्वादन करके अपने चरणाश्रित भक्तगणों को भी विरह के भीतर ब्रज-माधुरी आस्वादन की कौशल शिक्षा दी। उनके चरणाश्रित गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील रूप-रघुनाथ आदि षड्गोस्वामियों में भी विरह-साधना का आदर्श पाया गया। श्रीमद् रूपगो-स्वामिपाद की 'उत्कलिकावल्लरि' और श्रीपाद रघुनाथ दास की 'विलापकुसुमांजलि' इत्यादि स्तव ही इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। श्रीरूप अपनी उत्कलिकावल्लरि के प्रारम्भ में ही लिखते हैं—

"प्रपद्य वृन्दावनमध्यमेकः, क्रोशन्नसावुत्कलिकाकुलात्मा।
उद्घाटयामि ज्वलतः कठोरां, वाष्पस्य मुद्रां हृदि मुद्रितस्य ॥"

"हा नाथ श्रीकृष्ण ! हा देवि श्रीराधिके ! तुम्हारे इस ब्रजधाम का आश्रय लेकर यह दीनजन तुम्हारे दर्शन की

लालसा से दुःखी हृदय से रोदन करके अपने विरह संतप्त-हृदय में संरुद्ध अति कठिन ज्वलन्त वाष्पराशि की मुद्रा उद्घाटन कर रहा हूँ। तुम देखो, तुम्हारे विरह में तुम्हारे रूप के हृदय में कितनी प्रचण्ड ज्वाला है।" इस निदारुण विरह की बात भजन सम्पद्शून्य जीव के सम्बन्ध में कल्पना करना भी असम्भव है। अभीष्ट दर्शन की लालसा में नई-नई तरंगें विरह-व्याकुल हृदय सिन्धु को उद्वेलित कर देती है। धैर्य का बाँध टूट जाता है, तभी श्रीराधामाधव के दर्शन और सेवा की लालसा में विरहिणी सेविका कातर भाव से रोदन करके हृदय में एकत्रित विरह-वाष्प का उद्घाटन करके अभीष्ट के चरणों में ज्ञापन करती है। श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—"इयमवस्था खलु भक्तजनस्य पुरुषार्थ-दात्री" इस प्रकार की विरहाकुल दशा ही भक्त का परम पुरुषार्थ है। भगवान् को प्राप्त करने की अपेक्षा इस प्रकार की विरह दशा लाभ करना भक्त का श्रेष्ठतर भाव सम्पद् है। श्रीपाद रघुनाथ दास गोस्वामिचरण के विलापकुसुमांजलि स्तव में भी इसी के अनुरूप विरह वेदना प्रकाशित हुई है—

"अत्युत्कटेन नितरां विरहानलेन,
दन्दह्यमानहृदया किल कापि दासी।
हा स्वामिनि क्षणमिह प्रणयेन गाढ़-
माक्रन्दनेन विधुरा विलपामि पद्यैः॥"

हा स्वामिनि श्रीराधिके! तुम्हारी अति दीना दासी मैं—तुम्हारे दर्शन के बिना अत्यन्त उत्कट विरहानल में दग्ध होती हुई उच्चस्वर के क्रन्दन द्वारा अतिशय व्याकुल होकर पड़ी हुई हूँ। श्रीगोवर्धन प्रान्त में तुम्हारे ही कुण्डतट पर बैठी



हुई सब कार्यों को छोड़कर प्रणय भरे पद के द्वारा विलाप कर रही हूँ।

"देवि दुःखकुलसागरोदरे,
दूयमानमति-दुर्गतं जनम्।
त्वं कृपा प्रवल-नौकयाद्भुतं
प्रापय स्वपदपंकजालयम्॥"

"हे देवि! लीलामयि! यह दीनजन असहाय अवस्था में अति दुर्दशा ग्रस्त होकर दुःखसमूहरूप सिन्धु में पड़ा हुआ है। तुम अपनी कृपा रूप सुदृढ़ नौका पर चढ़कर इसे अपने पादपंकज रूप घर में ले जाओ।"

"त्वदलोकन-कालाहि-दंशैरेव मृतं जनम्।
त्वत्पादाब्जमिलल्लाक्षाभेषजैर्देवि जीवय॥"

"हे देवि! तुम्हारे अदर्शनरूप काल सर्प के दंशन से मृत इस जन को अपने पादपद्म के अलक्तकरूप औषधि द्वारा जीवित करो।"

इस विरहानल की ज्वाला, इस दुःख का समुद्र इतना गम्भीर एवं विशाल है, इस विरह-सर्प के दंशन से उत्पन्न कालकूट की ज्वाला इतनी तीव्र और भयावह है कि साधारण जीव की धारणा में दृष्टिगोचर ही नहीं होती है। श्रील गोस्वामिपादगणों के अलौकिक त्याग-वैराग्य के मूल में उनके इस इष्ट विरह जनित दुःख-वेदना की प्रवलता ही थी। श्रील रघुनाथदास के सम्बन्ध में महाजनों की उक्ति—

"राधाकृष्ण-वियोगे छाड़िल सकल भोगे
शुख-रुख अन्न मात्र सार।
गौराङ्गेर वियोगे अन्न छाड़ि दिल आगे
फल गव्य करिल आहार॥

सनातनेर अदर्शने ताहा छाड़ि सेइ दिने
केवल करये जलपान।
रूपेर विच्छेद यवे जल छाड़ि दिल तवे
राधाकृष्ण बलि राखे प्राण ।।
श्रीरूपेर अदर्शने ना देखि ताहार गणे
विरहे व्याकुल हैया कान्दे।
कृष्ण-कथा-आलापन ना शुनिया श्रवण
उच्चस्वरे डाके आर्त्तनादे ।।
हा हा राधाकृष्ण कोथा कोथा विशाखा-ललिता
कृपा करि देह दरशन।
हा चैतन्य महाप्रभु हा स्वरूप मोर प्रभु
हा हा प्रभु रूप-सनातन ।।
कान्दे गोंसाइ रात्रि दिने पुड़ि याय तनु-मने
क्षणे अंग धूलाय-धूसर।
चक्षु अन्ध अनाहार आपनार देह-भार
विरहे हइल जरजर ।।
राधाकुण्ड तटे पड़ि सघने निःश्वास छाड़ि
मुखे वाक्य ना हय स्फुरण।
मन्द-मन्द जिह्वा नड़े प्रेम-अश्रु नेत्रे पड़े
मने कृष्ण करये स्मरण ।।
सेइ रघुनाथ दास पुराह मनेर आश
एइ मोर बड़ आछे साध।
राधावल्लभदास मने बड़ अभिलाष
प्रभु मोरे कर परसाद ।।"

श्रीमन्महाप्रभु और गौड़ीय-वैष्णवाचार्यों के इस विरह रसमय आदर्श चरित्र से भक्त-वैष्णवगणों के लिए यह सार शिक्षा



है कि ब्रजभाव की साधना के साधकों के मन और प्राण में इष्ट के अभाव बोध को थोड़ा-बहुत जगाने की आवश्यकता है। मेरे समान जीव के चित्त में नित्य सैकड़ों जड़ीय धन, जन, लाभ, पूजा प्रतिष्ठा आदि के अभाव जागरित होते हैं, किन्तु इष्ट के निमित्त अभाव का बोध ही नहीं होता है। जिस ब्रजधाम का आश्रय लेकर आचार्य पादगण इतने विषम विरह सागर में रात्रिदिन तैरा करते थे, उसी ब्रजधाम में वास करते हुए मेरे जैसे जीव आहार-निद्रा का सुखभोग, हँसी-खुशी, आमोद-प्रमोद सब कुछ करते हैं और यन्त्र के समान नियमानुसार श्रवण-कीर्त्तन-अर्चन आदि भजन भी चलता रहता है। मेरे जैसे जीव को अपनी इस दुरवस्था की बात को विचार कर लज्जित होना उचित है। चित्त में धिक्कार और अनुताप जागना भी उचित है। आचार्यपादगणों की परम शक्तिशाली प्रार्थना की आवृत्ति के साथ अपने चित्त में इष्ट के अभाव और उत्कण्ठा का सुर मिलाकर अनुरागमय भजन जीवन लाभ के निमित्त कातर प्राणों से प्रार्थना करना ही उचित है।

"हरि हरि! कवे मोर हइव सुदिन।
फलमूल वृन्दावने, खाव दिवा अवसाने
भ्रमिव हइया उदासीन ।।
शीतल यमुना जले स्नान करि कुतूहले,
प्रेमावेशे आनन्दित हइया।
बाहु पर बाहु तुलि वृन्दावने कुलि कुलि
कृष्ण बलि वेड़ाव काँदिया ।।
देखिब संकेत-स्थान जुड़ावे तापित प्राण
प्रेमावेशे गड़ागड़ि दिव।

काँहा राधा प्राणेश्वरि काँहा गिरिवरधारी
काँहा नाथ बलिया डाकिब ॥
माधवी कुञ्जेर' परि सुखे वसि शुक सारी
गाइबेक राधाकृष्णरस ।
तरुमूले वसि ताहा शुनि जुड़ाइबे हिया
कबे सुखे गोंडाइब दिबस ॥
श्रीगोविन्द गोपीनाथ श्रीमती राधिका साथ
देखिब रत्नसिंहासने ।
दीन नरोत्तमदास करये दुर्लभ आश
एमति हइबे कतदिने ॥"

यह विरह विधुर प्राण में उत्कण्ठाशील साधक के ब्रज-का एक मधुर चित्र है। आचार्यपादगणों की उत्कण्ठामय प्रार्थना का अनुशीलन करने से साधक की प्रार्थना ठीक से होगी और धीरे-धीरे उसके चित्त और मन में इष्ट के अभाव बोध का अनुभव होगा। महाप्रभु ने स्वयं श्लोक का संक्षिप्त अनुवाद प्रकाशित किया—

"उद्वेगे दिवस ना याय, क्षण हैल युगसम ।
वर्षार मेघप्राय अश्रु वरिषे नयन ॥
गोविन्द विरहे शून्य हैल त्रिभुवन ।
तुषानले पोड़े येन ना याय जीवन ॥" (चै०च०)

**आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु माम-**
**दर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।**
**यथा तथा वा विदधातु लम्पटो**
**मत् प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥८॥**



श्रीराधा कहती हैं— 'हे सखि ! श्रीकृष्ण अपनी पद-दासी यानी मुझे आलिंगन द्वारा बक्षस्थल से लगाकर आत्म-ज्ञात करें या दर्शन न देकर मुझे मर्माहत करें, या वे लम्पट यहाँ-वहाँ किसी भी रमणी के साथ विहार ही करें, वे जो चाहें सो करें, वे मेरे प्राणनाथ भिन्न अन्य कुछ भी नहीं हैं।'

विरहिणी श्रीराधा के भाव में "युगायितं निमेषेण" श्लोक का पाठ करने के उपरान्त प्रभु का मन ईर्ष्या, उत्कण्ठा, दैन्यादि संचारी भावों से व्याकुल हो उठा, तब वे श्रीराधा के भाव में अपनी सखी के निकट अपने मन की बात व्यक्त करने लगे। श्रील कविराज गोस्वामिपाद के इस श्लोक का पाठ करने का कारण उल्लेख कर रहे हैं।

"कृष्ण उदासीन हैल करिते परीक्षण ।
सखी सब कहे—कृष्णे कर उपेक्षण ॥
एतेक चिन्तिते राधार निर्मल हृदय ।
स्वाभाविक प्रेमार स्वभाव करिल उदय॥
ईर्ष्या, उत्कण्ठा दैन्य प्रौढ़ि विनय ।
एत भाव एक ठाञि करिल उदय ॥
एत भावे राधार मन अस्थिर हइल ।
सखी-गण आगे प्रौढ़ि-श्लोक ये पढ़िल ॥
सेइ भावे प्रभु सेइ श्लोक उच्चारिल ।
श्लोक उच्चारिते तद्रूप आपने हइल ॥"
(चै० च० )

एक बार श्रीराधा के प्रेम की परीक्षा करने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण श्रीराधा के प्रति उदासीनता दिखाने लगे। वे श्रीराधा के पास नहीं आते, श्रीराधा को सखीगणों के निकट

उनकी विरह व्यथा सुनकर चित्त व्यथित होते हुए भी बाहर कातरता का कोई भाव प्रकाशित नहीं करते। इधर श्रीमती श्रीकृष्ण विरह में अधीरा होकर पड़ी हुई थीं। सखीगण सब कुछ जानती हैं। श्रीकृष्ण बाहर से श्रीराधा के प्रति उपेक्षा करते हुए भी, यह उनका अन्तर का भाव नहीं है, मर्मी सखीगण यह सब जानती हैं। तभी तो वे श्रीराधा को सान्त्वना देते हुए कहती हैं—राधे, तुम प्रेममयी हो, तुम्हारे प्रति श्रीकृष्ण की उपेक्षा कभी सम्भव नहीं है। तुम उनके लिए व्याकुलता प्रकाशित कर रही हो, वे तुम्हारी व्यग्रता को देखने के लिए उपेक्षा का भाव दिखा रहे हैं। तुम भी यदि व्यग्रता प्रकाशित न करके उनके प्रति उदासीनता का प्रदर्शन करो, तब वे और स्थिर नहीं रह पायेंगे, और स्वयं तुम्हारे पास आयेंगे।' सखीगणों की बात सुनकर श्रीमती के चित्त में श्रीकृष्ण-सुखभावनामय स्वाभाविक प्रेमभाव प्रकट हो गया। स्वाभाविक प्रेम के लक्षण के सम्बन्ध में वर्णित है—

"स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां,
निन्दापि प्रमदं प्रयच्छति परिहासश्रियं बिभ्रति।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती,
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदिय विक्रीड़ति प्रक्रिया॥"
(विदग्धमाधव नाटक–५/४)

"जिससे प्रशंसा प्रदासीनता का प्रकाश करती हुई चित्त को कष्ट प्रदान करती है (अर्थात् प्रिय व्यक्ति द्वारा प्रशंसा करने से, वह उदासीनता प्रतीत हो, इसलिए दुःख उत्पन्न होता है) जिससे निन्दा भी परिहास मालूम पड़े और आनन्द दे (अर्थात् प्रियजन निन्दा करें तो वह परिहास लगे,



इस कारण आनन्ददायक हो) जो किसी दोष-दर्शन से कम न हो और गुण-दर्शन से बढ़े नहीं, अनिर्वचनी सहज प्रेम की प्रक्रिया इसी प्रकार खेल करती है।"

इस स्वाभाविक प्रेम भाव के उदय से सखीगणों की बात ध्यान करते-करते श्रीराधा के चित्त में एक साथ ही ईर्ष्या, उत्कण्ठा, दैन्य, प्रौढ़ि (उत्साह), विनय इत्यादि संचारी भावों का उदय हुआ। इन विभिन्न भावों के मिलन से श्रीराधा का मन अस्थिर होकर पड़ गया। अवस्था में सखीगणों के निकट उन्होंने जो कहा था 'आश्लिष्य वा पादरतां' श्लोक में वही कहा गया है। राधाभावाविष्ट प्रभु भी मन में विचार कर रहें कि श्रीकृष्ण के विरह में सखीगण उनको सान्त्वना देने के अनुरूप ही उपदेश दे रही हैं। राधाभाव के स्फुरण से प्रभु के चित्त में यह सब संचारी भाव एक साथ उदित हुए, प्रभु तभी श्रीराधा के श्रीमुख से उच्चारित इस श्लोक का पाठ करने लगे।

आलोच्च 'आश्लिष्य वा पादरतां' प्रभु के शिक्षाष्टक का यह अन्तिम श्लोक अत्यन्त गम्भीर भाव का है, और इसका तात्पर्य बहुत विस्तृत है। श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने स्वयं लिखा है—"एइ श्लोकेर हय अति अर्थेर विस्तार। संक्षेपे कहिये—तार नाहि पाइ पार॥" किसी किसी ग्रन्थ में यह पयार नहीं मिलता है। इससे यह समझना होगा कि प्रभु स्वयं ही परवर्ती त्रिपदियों से श्लोक के अर्थ का आस्वादन कर रहे हैं। और जिन सब ग्रन्थों में यह पयार है वहाँ यह समझना चाहिए कि प्रभु का आस्वाद्य भाव श्रीलगोस्वामिपाद ही प्रकाशित कर रहे हैं। जो भी हो, अर्थात् महाप्रभु स्वयं ही—

त्रिपदियों से श्लोक का आस्वादन कर रहे हो, या श्रील गोस्वामिपाद ही प्रभु का भाव व्यक्त करें, पूर्व श्लोकों की संक्षिप्त व्याख्या की अपेक्षा जब इस श्लोक की कुछ विस्तृत व्याख्या की जाये, तब मैं इस त्रिपदी की व्याख्या करने से ही श्लोक के अर्थ आस्वादन का प्रयास करूँगा। किन्तु त्रिपदियों की व्याख्या करने से पहिले ही वृजसुन्दरीगणों की समर्थारति या महाभाव के लक्षणों के सम्बन्ध में कुछ भी आलोचना न करने से त्रिपदियों की व्याख्या को भी हृदय में धारण करना काफी कठिन होगा।

श्रीकृष्णसुखानुकूल्य-तत्परता ही प्रेम की जीवनी शक्ति है। जिस प्रेम में यह श्रीकृष्णसुखानुकूल्य-तात्पर्य जितना अधिक गम्भीर हो, जिसमें सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म उपाधि या आत्मसुखाकांक्षा को त्याग कर एकमात्र श्रीकृष्ण सुखकामना के लिये ही ध्यान केन्द्रित हो, उस प्रेम को उतना ही महान् समझना चाहिए। श्रीकृष्ण सुख के लिए आत्मसुखवासना को पूर्णरूप से अर्पण करना जिस प्रकार गोपियाँ जानती है, उस प्रकार अन्य कोई नहीं जानता है। उनकी समर्थारति इतनी गाढ़तम है कि जिसकी गन्धमात्र से ही श्रीकृष्णसुखानुसन्धान को छोड़ वे अन्य सब कुछ भूल जाती हैं। "समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता:।" ( उ० नी० )। इस अत्यन्त गाढ़ समर्थारति के उदय से ही वृज सुन्दरियाँ देह, घर, आत्मीय-स्वजन, कुलधर्म धैर्य, लज्जा आदि सब त्यागकर श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिए आत्महारा हो जाती हैं।

इस स्थल पर यह भी जानने योग्य है कि सम्भोगेच्छा ( नायक-नायिका की परस्पर की मिलन-इच्छा ) के बिना



मधुरारति नहीं होती। वह संभोगेच्छा दो प्रकार की है (१) प्रियजन द्वारा निजेन्द्रियतर्पण-सुखेच्छामय और (२) निजेन्द्रिय द्वारा प्रियजन के इन्द्रिय सुख-भावनामय। इन दोनों में से पूर्व सम्भोगेच्छा अपने सुखोन्मुखता हेतु 'काम' नाम से जानी जाती है और द्वितीय संभोगेच्छा प्रियजन-सुखोन्मुखता हेतु 'रति' नाम से जानी जाती है। समर्थारति से संभोगेच्छा संपूर्णरूप से तादात्म्य प्राप्त होकर रति के साथ अभिन्न रूप से प्रकाश पाती है। तभी वह श्रीकृष्णानुकूल्य-तात्पर्य और श्रीकृष्णोन्मुखता-स्वभाव प्राप्त होकर रहती है।

"सम्भोगेच्छाविशेषोऽस्या: रतेर्जातु न भिद्यते।
इत्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यम: ॥"
( उ० नी० )

अर्थात् 'इस समर्थारति से संभोगेच्छा कभी भी स्वतन्त्र नहीं होती है। इसलिए समर्थारति से केवलमात्र श्रीकृष्ण सुख के लिए ही सभी प्रयत्न प्रकाशित होते हैं।' यह समर्थारति ही प्रौढ़ा या वृद्धिशीला होकर महाभावदशा को प्राप्त होती है। "इयमेव रति: प्रौढ़ा महाभावदशां व्रजेत्।" ( उ० नी० )। यह महाभाव एकमात्र वृजसुन्दरीगणों की ही भाव-सम्पद् है। अन्य कान्तागणों की बात तो दूर रुक्मिणी, सत्यभामा आदि महिषीगणों में भी यह अति दुर्लभ है।

"मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभ:।
व्रजदेवैकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते॥"
( उ० नी० )

यह महाभाव श्रेष्ठ अमृततुल्य आस्वादन-सम्पत्ति धारण करके मन को स्व-स्वरूपत्व प्राप्त कराता है। "वरामृतस्वरूप-

श्री स्वं स्वरूपं मनो नयेत्" (ऐ)। "मनः स्वं स्वरूपं नयेत् महाभावात्मकमेव मनः स्यात्, महाभावात् पार्थक्येन मनसो न स्थितिरित्यर्थः तेन इन्द्रियाणां मनोवृत्तिरूपत्वाद्व्रजसुन्दरीणां मन आदिसर्वेन्द्रियाणां महाभावरूपत्वात् तत्तद्व्यापारैः सर्वैरेव श्रीकृष्णास्यातिवश्यत्वं युक्ति सिद्धमेव भवेत् ॥" (आनन्दचन्द्रिका टीका) अर्थात् व्रजसुन्दरीगणों के मन को महाभाव स्व-स्वरूपत्व प्राप्त कराता है, इसका अर्थ यह है कि उनका मन महाभावात्मक हो जाता है, महाभाव से अलग मन का और कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता है, और फिर आँख, कान आदि इन्द्रिय समूह भी मनोवृत्तिरूप हैं, इसलिए व्रजसुन्दरीगणों के मन एवं दशों इन्द्रियाँ आदि सभी महाभावरूप हैं, तभी तो उनकी सब इन्द्रियों की चेष्टा ही श्रीकृष्णसुख के लिए ही समझी गई है, और उनके प्रेम से श्रीकृष्ण की सबसे अधिक वश्यता भी युक्तिसिद्ध होती है। महाभाव का कार्य श्रीकृष्ण को सुखी करवाना ही है, तभी तो व्रजसुन्दरियों की सभी इन्द्रियाँ और मन की वृत्तियाँ श्रीकृष्ण के सुखसाधन को छोड़ अन्य किसी भी उद्देश्य के लिए नहीं है।

एक बार द्रोणाचार्य महाशय ने दुर्योधन और अर्जुन आदि कौरव-पाण्डव-कुमारगणों की अस्त्रविद्या की परीक्षा के लिए एक वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए कृत्रिम पक्षी की दाहिनी आँख को लक्ष्य बनाकर उसको वाण से बेधने का आदेश किया। कुमारगणों में से अन्य कोई भी लक्ष्य भेद करने में समर्थ नहीं हुआ। एकमात्र अर्जुन ही लक्ष्यवेध में समर्थ हुए। उस समय द्रोणाचार्य ने प्रश्न किया—'वत्स ! तुम अनायास ही कुमारगणों के लिए असाध्य इस लक्ष्य को कैसे भेद सके ? उसके उत्तर में अर्जुन बोले—'गुरुदेव ! पहिले मैंने लक्ष्य को



स्थिर करते करते वृक्ष समूह के मध्य केवल इसी एक वृक्ष को देखा। उसके बाद इस वृक्ष की अनेक शाखाओं के बीच में से जिस शाखा पर कृत्रिम पक्षी बैठा था, उस पर ही लक्ष्य को स्थिर किया, फिर भी मैंने वाण नहीं छोड़ा। उसके बाद लक्ष्य स्थिर करते-करते एक पक्षी को छोड़कर कुछ भी नहीं देखा, तब भी वाण नहीं छोड़ा। फिर-सूक्ष्म भाव से लक्ष्य स्थिर करते-करते पक्षी की दाहिनी आँख पर ही केवल लक्ष्य स्थिर हुआ। जब मेरे सामने इस आँख को छोड़ अन्य कुछ भी न रहा, तभी मैंने वाण को छोड़ा। इस प्रकार सूक्ष्म भाव से लक्ष्य स्थिर करने और एकाग्रता के कारण ही मैं कार्य सिद्धि में समर्थ हुआ।" उसी प्रकार महाभाववती व्रजसुन्दरीगणों की अखण्ड एकाग्रता और सारा लक्ष्य श्रीकृष्ण के सुख विधान में ही केन्द्रीभूत है।

"सेइ गोपीगण-मध्ये उत्तमा-राधिका।
रूपे गुणे सौभाग्ये प्रेमे सर्वाधिका ॥" (चै०च०)

"तदेवं परममधुर प्रेमवृत्तिमयीषु तास्वपि तत्सारांशोद्रेकमयी श्रीराधिका, तस्यामेव प्रेमोत्कर्षपराकाष्ठाया दर्शितत्वात् ॥" ( श्रीकृष्ण-संदर्भ—१८९ अनुः )। अर्थात् 'परममधुर प्रेमवृत्तिमयी गोपीगणों के मध्य में उनकी (परम मधुर प्रेमवृत्ति की) सारांश-उद्रेकमयी राधा में ही प्रेम की परमकाष्ठा मदनाख्य-महाभाव विराजमान हैं। इसीलिए श्रीराधा में ही प्रेमोत्कर्ष की पराकाष्ठा शास्त्र और महाजन वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित होती है।' श्रीमद् रूपगोस्वामिपाद मादनाख्य-प्रेम के लक्षण वर्णन करते हुए कहते हैं—

"सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदाः ॥" (उ०नी०)

ह्लादिनी का सार प्रेम सब प्रकार के भावों के उद्गम से उल्लासशील होकर 'मादन' की आख्या प्राप्त करता है। यह मादन परात्पर भाव है, अर्थात् निखिल भाव समूहों में श्रेष्ठ है। एकमात्र श्रीराधा की ही भाव सम्पद् है, और कहीं पर भी इसकी स्थिति नहीं है।" श्रीराधामाधव की मिलनभूमि से ही इस मादनभाव का प्रकाश होता है।

श्रीमन्महाप्रभु ने गम्भीरालीला में माथुर विरहकातरा-श्रीराधा के मोहनाख्यभाव के चरम अनुभाव दिव्योन्माद का रसास्वादन किया है। यह दिव्योन्माद श्रीराधा की ही भाव सम्पद् है और माथुर-विरह में ही इसका प्रकाश पाया जाता है। वास्तव में श्रीगौराङ्गदेव श्रीराधा-कृष्ण के मिलित विग्रह ही हैं। प्रश्न हो सकता है कि उनमें तो श्रीराधा कृष्ण का नित्य मिलन विराजित है, उनमें श्रीराधा के माथुर विरह का चरम अनुभाव इस दिव्योन्माद का उदय किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह है कि मादनभाव को 'सर्व-भावोद्गमोल्लासी' कहा गया, मादनभाव की भित्तिके ऊपर ही महाप्रभु के मोहनाख्य भाव का आस्वादन सम्भव होता है। श्रीउज्ज्वलनीलमणि में कहा गया है—

"योग एव भवेदेष विचित्रः कोऽपि मादनः।
यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीलाः सहस्रधाः॥"

अर्थात् "योग से या श्रीराधामाधव की मिलनभूमि से ही इस मादनभाव को प्रकाश होता है, जिसमें सहस्र प्रकार की नित्य लीलाओं का विलास विराजता है।" इस श्लोक की आनन्दचन्द्रिका टीका में लिखा है— "यदा तु मादनाख्यः स्थायी स्वयमुदयते तत्क्षण एव चुम्बनालिंगनादि सम्भोगानु-



भवमध्य एव विविधं वियोगानुभव इत्येकस्मिन्नेव प्रकाशे प्रकाशद्वयधर्मानुभवः स च विलक्षणरूप एवेति।" अर्थात् जब स्वयं मादनाख्य स्थायिभाव का उदय होता है, तब श्रीराधा-माधव के चुम्बन आलिंगन आदि सम्भोगानुभव के मध्य ही एक साथ विभिन्न वियोगानुभूतियाँ भी विराजती हैं; इस प्रकार एक ही प्रकाश में विरुद्ध प्रकाशद्वयों का एक साथ धर्मानुभव ही मादनभाव की विलक्षणता है" इसलिए महाप्रभु में अखण्ड मादनरस सतत विराजमान होते हुए भी विरह के चरमभाव दिव्योन्माद रस आस्वादन का कोई असामंजस्य नहीं है। विशेषतः मादनभाव की भित्ति पर इस मोहनाख्य भाव का आस्वादन कार्य श्रीराधारानी की अपेक्षा महाप्रभु में समधिक विशिष्टतापूर्ण है। जो भी हो, श्रीराधाभाव में श्रीमन्महाप्रभु आलोच्य श्लोक का आस्वादन प्रकाशित कर रहे हैं—

"आमि कृष्णपददासी, तेहों रससुखराशि,
आलिंगिया करे आत्मसाथ।
किबा ना देन दरशन जारेन आमार तनुमन
तभू तेहों मोर प्राणनाथ॥
सखि हे! शुन मोर मनेर निश्चय।
किबा अनुराग करे, किबा दुख दिया मारे
मोर प्राणेश कृष्ण अन्य नय॥"

श्रीललिता, विशाखादि सखीगण श्रीकृष्ण के उपेक्षा प्रदर्शन के भाव की बात श्रीराधारानी को कहने पर श्रीराधा-रानी ने कहा—सखि! मैं तो **'कृष्णपददासी'** हूँ। पद शब्द दीनतापूर्वक ही कह रही हैं। 'कृष्णपददासी' यह बात ही

श्लोक व्याख्या का मूल सूत्र है। श्रीराधारानी कृष्णपददासी भाव के आवेश में हो यह सब बातें कह रही है। दासी का धर्म है अपने प्राणनाथ को सेवा करके सुखी करना। अपने सुख का ध्यान रखते हुए दासी की सेवा अपने प्राणनाथ के लिए कभी सुखदायक नहीं हो सकती। तभी तो श्रीमती कह रही हैं—सखि ! मैं तो उनकी श्रीचरण सेविका दासी हूँ। मैं उनके प्रति क्या उपेक्षा का भाव प्रकाशित कर सकती हूँ ? मेरी उपेक्षा करने से यदि उन्हें आनन्द मिलता है, तो वह उपेक्षा भी मेरे लिए सुखप्रद है। उनकी उपेक्षा करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि उनका सुख विधान ही तो मेरा कर्त्तव्य है, सखि।

हे सखि ! वे विशेषरूप में रसराशि और सुखराशि या आनन्दराशि है। (श्रुति भी श्रीकृष्ण स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहती है—"रसो वै सः" "आनन्द ब्रह्म" "रसं ह्येवायं लब्धानन्दो भवति') इसलिए उनकी सब चेष्टाओं से आनन्द या रस का स्रोत प्रवाहित होता है। कोई यदि उनकी चेष्टा से दुःख पाता है, वह उसकी अपनी प्रकृति के दोष के कारण है, ऐसा समझना चाहिए। कारण यह है कि श्रीकृष्ण स्वरूप में जब रस या आनन्द को छोड़ अन्य कुछ है ही नहीं, तब उनकी चेष्टा से किसी को दुःख कैसा पहुँच सकता है ? यानि दुःख पहुँचने का कोई प्रश्न ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण-पूर्णानन्द स्वरूप हैं, उन्हें आनन्दलाभ के लिए बाहर की किसी वस्तु की कोई आवश्यकता नहीं है। ह्लादिनी शक्ति की एक-मात्र वृत्ति प्रेम ही उनके चित्त में आकांक्षा जगाने में सक्षम है। वे केवल प्रेमरसास्वादन लोलुप है, यह उनका स्वरूपगत धर्म है। श्रीराधारानी साक्षात् प्रेम लक्ष्मी हैं इसलिए उन मूर्ति-मान् शृंगार श्रीकृष्ण के अन्तर में वे ही (श्रीराधा ही) शृंगार-रसास्वादन की अफुरन्त वासना जगाकर नित्य उन्हें रस लोलुप बनाये रखती है। श्रीराधारानी के प्रति उपेक्षा आदि समस्त प्रदर्शन उन रसिकशेखर की रसलोलुपता को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है।



जो भी हो, श्रीमती बोलीं—'सखि ! वे रससुखराशि कृष्ण मुझे आलिंगन द्वारा आत्मसात् करें, अथवा मुझे दर्शन न देकर मेरे देह-मन को ही दग्ध करें, वह मेरे प्राणनाथ ही हैं। मैं जब उनकी दासी हूँ, तब उनको जिस बात से सुख होता है, उससे ही मेरा सुखी होना उचित है। हे सखि ! मैं अपने मन के दृढ़निश्चय की बात तुमसे कहती हूँ, सुनो—'मेरे प्राणनाथ श्रीकृष्ण मेरे प्रति चाहे अनुराग प्रकाश करें या दुःख देकर मुझे मार ही डालें—वे मेरे तो प्राणनाथ ही हैं, वे कोई अन्य तो नहीं हैं।' श्रीकृष्ण राधारानी के प्रति अनुराग प्रकाश करें या फिर प्राणान्तक दुःख ही दें परवर्ती त्रिपदी में यही कह रहे हैं।

"छाड़ि अन्य नारीगण,　　मोर वश तनु-मन,
　　मोर सौभाग्य प्रकट करिया।
ता सभारे देन पीड़ा,　　आमासने करे क्रीड़ा,
　　सेइ नारीगणे देखाइया ॥
किवा तेहो लम्पट,　　शठ धृष्ट सकपट,
　　अन्य नारीगण करि साथ।
मोरे दिते मनः पीड़ा,　　मोर आगे करे क्रीड़ा,
　　तभु तेंहों मोर प्राणनाथ ॥"

श्रीमती कहती हैं—"सखीगण ! वे इस वृज की रमणियों के प्राणवल्लभ हैं, मेरे ही समान अनेक गोपरमणियों के वे प्राणनाथ हैं। फिर भी वे मुझे सबसे अधिक प्यार करते हैं, यह उनकी बहुत सी लीलाओं से प्रमाणित होता है। इसलिए वे अन्य प्रेयसीगणों की उपेक्षा कर अपना देह और मन एकान्त भाव से मेरे वशीभूत करके मेरा सौभाग्य प्रकाश करते हुए व अन्य नारीगणों को दिखाते हुए उनके सामने ही लगातार मेरे साथ क्रीड़ा करें और उनके मन को पीड़ित करें, किम्बा वे लम्पट शठता, धृष्टता और कपटता प्रकाशित करते हुए मेरे सामने ही दूसरी रमणियों के साथ क्रीड़ा करें और मुझे प्रचुर मन-पीड़ा प्रदान करें—तब भी वे मेरे प्राणनाथ ही है।"

वस्तुतः रसस्वरूप श्रीकृष्ण का यह लाम्पट्य, शाठ्य, धृष्टता, कपटता सब रसमय है। प्रेम सम्पुट में श्रीराधारानी ही देवांगनारूपधारी श्रीकृष्ण के निकट कह रही हैं—

"लाम्पट्यतो नवनवं विषयं प्रकुर्व्वं,
न्नास्वादयन्नतिमदोद्धुरतां दधानः।
आह्लादयन्नमृतरश्मिरिव त्रिलोकीं,
सन्तापयन् प्रलयसूर्य इवावभाति॥" (५६)

"सखि ! लाम्पट्य के कारण यह प्रेम प्रियतम को नये-नये रूप में आस्वादन कराता रहता है और सातिशय मदाधिक्य विधान करते हुए तीनों लोकों को चन्द्र के समान आह्लादित और प्रलयकालीन सूर्य के समान तापित करते हुए दीप्तिमान होता है।"

तात्पर्य यह है कि बहुत सी नायिकाओं के लिए निष्ठा होने से नायक की प्रीति क्षण-क्षण में नई-नई नायिकाओं की



प्राप्ति के लिए उत्कण्ठ जगाकर नये-नये भावों के आस्वादन से नायक को प्रफुल्लित कर डालती है। नायिका-प्रीति भी दूसरे स्थान पर गये नायक की अप्राप्ति के कारण विरह दशा को प्राप्त होकर नायिका को अतीत और भविष्य के विविध सम्भोगों के सुख-स्वप्न प्रदान कर एक अभूतपूर्व आस्वादन सागर में डुबा देती है। चन्द्र जिस प्रकार अपनी चाँदनी से त्रिलोक को शीतलता प्रदान करता है, प्रेम भी उसी प्रकार सम्भोगावस्था में नायक-नायिका को अनिर्वचनीय आस्वादन प्रदान करता है। तब उन्हें त्रिभुवन आनन्दमय प्रतीत होता है। और फिर विरहावस्था में वही प्रेम कोटि-कोटि दावानल से भी अधिक कष्टप्रद होकर प्रत्येक वस्तु को ज्वालामय प्रतीत कराता है। इसलिए प्रेम से निकली हुई यह ज्वाला भी अन्तर में एक अवर्णनीय आनन्द की फलगुधारा प्रवाहित कर देती है और भावी मिलनानन्द को परिपुष्ट करने का साधन बनती है। वृज के मधुर प्रेम के आश्रय और विषय वृजकान्तागण और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही यह सब चमत्कारिता जाननी चाहिए। श्रीमती फिर बोलीं—

"ना गणि आपन दुःख सबे वाञ्छि तार सुख
तार सुखे आमार तात्पर्य।
मोरे यदि दिले दुःख तार हैल महासुख
सेइ दुःख मोर सुख वर्य्य॥"

'सखि ! मुझे बहुत मनः पीड़ा और बहुत दुःख देने पर भी वे मेरे प्राणनाथ ही हैं क्यों, उसे कहती हूं, सुनो ! वे मुझे दुःख भी दें फिर भी मैं उस दुःख की गणना नहीं करती हूँ क्योंकि वह मेरे मन और चित्त पर कोई प्रभाव ही नहीं छोड़

पाता है। कारण यह है कि मेरी देह-मन और सभी इन्द्रियाँ केवल उनके सुख की ही कामना करती रहती हैं। उनका सुख ही मेरी एक मात्र कामना है, तब मुझे दुःख देने से यदि वे महासुखी होते हैं तो वह दुःख ही मेरा श्रेष्ठतम सुख है। ऐसा मेरा मन मानता है। गोपीप्रेम की महिमा के वर्णन प्रसंग में श्रील कविराज गोस्वामिपाद लिखते हैं—

"आत्म-सुख-दुःख गोपीर नाहिक विचार।
कृष्णसुख हेतु चेष्टा मनो व्यवहार॥
कृष्ण-लागि आर सब करि परित्याग।
कृष्णसुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥
.........................................
तवे ये देखिये गोपीर निज देहे प्रीत।
सेहोत कृष्णेर लागि जानिह निश्चित॥
एइ देह कैल आमि कृष्णे समर्पण।
ताँर धन—ताँर इहा सम्भोग साधन॥
ए देह-दर्शन-स्पर्शे कृष्ण संतोषण।
एइ लागि करे देहेर मार्जन—भूषण॥
आर एक अद्भुत गोपी-भावेर स्वभाव।
बुद्धिर गोचर नहे जाहार प्रभाव॥
गोपीगण करे यवे कृष्णे—दरशन।
सुख वाञ्छा नाहि सुख हय कोटि-गुण॥
गोपिका दर्शने कृष्णेर ये आनन्द हय।
ताहा हैते कोटिगुण गोपी आस्वादय॥
ताँ सभार नाहि निज-सुख अनुरोध।
तथापि वाड़ये सुख, पड़िल विरोध॥



ए विरोधेर एइ एक देखि समाधान।
गोपिकार सुख कृष्णसुखे पर्यवसान॥"
( चै०च० आदि—४ परि० )

श्रीकृष्ण का सुख ही गोपी के सुख में पर्यवसित रहता है। गोपीगणों को सुखी करने के लिए श्रीकृष्ण को सुखी करने की आवश्यकता है। वे कृष्ण के सुख से ही सुखी और कृष्ण के दुःख से ही दुःखी होती है। उनकी अपनी सुख या दुःख की कोई अनुभूति ही नहीं है। गोपिका शिरोमणि श्रीराधा में यह वृत्ति सर्वाधिक विकास प्राप्त है। तभी तो फिर कहा—

जे नारी के वाञ्छे कृष्ण तार रूपे सतृष्ण
तारे ना पाञा काहे हय दुःखी?
मुञि तार पाये पड़ि लञा याऊँ हाथे धरि
क्रीड़ा कराञा करो तारे सुखी॥"

श्रीकृष्ण यदि दूसरी ब्रजांगना का संग भी करे तो भी स्वरूपत: श्रीराधा को दुःख नहीं होता है, वरन् सुख ही होता है। तभी तो कहती है—सखि! श्रीकृष्ण यदि किसी रमणी के रूप या गुण से आकर्षित होकर उसके साथ मिलन के लिये लालायित होते हैं, और यदि उसकी श्रीकृष्ण से मिलन की इच्छा ही न हो, तो मैं उस रमणी के घर उसके पैर पड़ कर उसको श्रीकृष्ण के साथ मिलने के लिए तैयार करने और स्वयं उसका हाथ पकड़कर श्रीकृष्ण के हाथ में उसको समर्पण करके अपने प्राणवल्लभ को उसके साथ क्रीड़ा कराकर उन्हें सुखी करूँगी। उस रमणी का अप्राप्ति जनित दुःख अपने प्राण रहते अपने प्राणवल्लभ को सहन नहीं करने दूँगा।

श्रीराधारानी की यह उक्ति उनके श्रीकृष्ण-सुखैक-भावनामय अकैतव प्रेम का ही उज्ज्वल साक्ष्य दे रही है। इस

जातीय महामाधुर्यमय, महाभावाख्य प्रेम के गाढ़ बन्धन में श्रीकृष्ण अत्यन्त वशीभूत रहते हैं और इसीकारण श्रीकृष्ण की समग्र इन्द्रियवृत्तियाँ श्रीराधा में ही केन्द्रीभूत रहती है। श्रीकृष्ण के पूर्वराग के सम्बन्ध में महाजन लिखते हैं—

"नयान-पुतली राधा मोर।
मन माझे राधिका उजोर ॥
क्षितितले देखि राधामय।
गगनेह राधिका उदय ॥
राधामय भेल त्रिभुवन।
तबे आमि करिव केमन ॥
कोथा सेइ राधिका सुन्दरी।
ना देखि धैरज हैते नारि ॥
ए यदुनन्दन मने जागे।
कि ना करे नव अनुरागे ॥"

श्रीकृष्ण स्त्रैण पुरुष नहीं है—वे आत्माराम, आप्तकाम और स्वयं भगवान् है। विशुद्ध श्रीकृष्ण सुखैक भावनामय प्रेम को छोड़कर उनके चित्त में आलोड़न उत्पन्न करना सर्वथा असम्भव है। एकमात्र श्रीकृष्ण प्रेममयी श्रीराधा के लिए ही उनकी इस प्रकार उन्मादनामयी उक्ति देखी जाती है। श्रीराधा की यह विशुद्ध प्रेममाधुरी सर्वथा भाव, भाषा और मानवीय विचार से परे की वस्तु है।

श्रीराधारानी की इस उक्ति से यह प्रश्न उठ सकता है कि—यदि अन्य रमणी के साथ क्रीड़ा करने की श्रीकृष्ण की वासना को वह स्वयं उसे लाकर उसे कृष्ण के साथ मिलन कराकर पूर्ण करने की इच्छा करती है, तब श्रीकृष्ण के चन्द्रा-



वली के कुञ्ज में जाने से वे क्यों मानिनी हो जाती है? इस विशेष प्रश्न की सम्भावना से ही कहा है—

"कान्ता कृष्णे करे रोष, कृष्ण पाय सन्तोष,
सुख पाय ताड़न भर्त्सने।
यथायोग्य करे मान, कृष्ण ताते सुख पान
छाड़े मान अलप साधने ॥
सेइ नारी जीये केने कृष्णेर मर्मव्यथा जाने
तभू कृष्णे करे गाढ़ रोष।
निज सुखे माने काज पड़ु तार शिरे वाज
कृष्णेर मात्र चाहिए सन्तोष ॥"

चन्द्रावली आदि नायिका के कुंज में श्रीकृष्ण के गमन करने से जो श्रीराधारानी मानिनी हो जाती है, इसका भी मूल कारण श्रीकृष्ण को मान की विचित्र रसमाधुरी आस्वादन कराना ही है। मान के लक्षण श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में इस प्रकार लिखे हुए हैं—

"दम्पत्योर्भाव एकत्र सतोरप्यनुरक्तयोः।
स्वाभीष्टश्लेषवीक्ष्यादि निरोधी मान उच्यते ॥"

"नायक-नायिका का एकत्र ही अवस्थान होता है, एक के प्रति दूसरे की अनुरक्ति भी रहती है; एक दूसरे को देखने एवं आलिगन करने के इच्छुक भी होते हैं, जो भाव विशेष इस अभीष्ट सिद्धि का विरोधी होकर खड़ा होता है उसी को **'मान'** कहते हैं। यह विरोध बाहर से नायक-नायिका के लिए कष्टप्रद होते हुए भी वास्तव में इसके फलस्वरूप प्रेम वृद्धि को प्राप्त होता है, केवल वृद्धि ही नहीं प्रेम नव-नवायमान् भी हो उठता है। प्रेम के प्रवाह को अधिकतर स्वच्छ, सवेग और

अभिनव कर डालने के लिए ही मान का उद्भव होता है। नियत आस्वाद्य वस्तु को अभिनव माधुर्य से सुमधुर और प्रलोभनीय करने में मान अद्वितीय है। इसलिए प्रेम के राज्य में मान एक संजीवनी सुधा—एक अद्भुत इन्द्रजाल है। इसलिए इसके उदय से नायिका का सौन्दर्य-माधुर्य रूप-रसादि नायक के मन में क्षण-क्षण में नव नवायमान अनुभूत होता है। मकरन्द-लोलुप-मधुप के समान नायक मानिनी के मुखकमल-मधुपान के लिए व्याकुल हो पड़ते हैं। हृदय के गहनतर अन्धकार को नष्ट करने के लिए नायिका की "दन्तरुचिकौमुदी" की प्रार्थना से व्याकुल होते हैं। अन्त में 'देहि पदपल्लवमुदारम्' कहकर मानिनी के चरणों में अपने मस्तक को रखकर धन्य हो जाता है। नायिका के रोष भरे वचनामृत नायक को वेदस्तुति से भी अधिक आनन्द प्रदान करते रहते हैं।

"प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन।
वेदस्तुति हैते हरे सेइ मोर मन॥" (चै०च०)

श्रीराधारानी कहती हैं—'सखि! मानिनी कान्ता का रोष श्रीकृष्ण को अपार आनन्द प्रदान करता है। मानिनी की ताड़ना-भर्त्सना से उन्हें अपार सन्तोष मिलता है। तभी उनको मान रस के सुख का आस्वादन कराकर थोड़े प्रयत्न से ही मानिनी का मान भंग हो जाता है। और श्रीकृष्ण की मर्म-व्यथा को जानते हुए भी जो रमणी श्रीकृष्ण के प्रति गाढ़ रोष बनाये रखती है, अपने सुख के लिए ही जिसका एकमात्र उद्देश्य हो, उसके सिर पर वाज पड़े, अर्थात् उसे सैकड़ों-सैकड़ों बार धिक्कार है। कृष्णकान्तागणों का एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्ण के सुख का विधान करना ही है और यही उनके लिए



उचित है।' श्रीराधारानी श्रीकृष्ण का सुख ही चाहती हैं उनकी और कोई भी कामना नहीं है—यही फिर विशेष भाव से कह रहो हैं—

"जे गोपी मोर करे द्वेष कृष्णेर करे सन्तोषे,
कृष्ण जारे करे अभिलाष।
मुञि तार घरे याञा, तारे सेवों दासी हञा,
तबे मोर सुखेर उल्लास॥
कुष्ठीविप्रेर रमणी, पतिव्रता-शिरोमणि,
पति-लागि करिल वेश्यार सेवा।
स्तम्भिल सूर्येर गति, जियाइले मृतपति
तुष्ट कैले मुख्य तिन देवा॥"

'सखि! कोई गोपी यदि मेरे प्रति विद्वेष रखती है किन्तु श्रीकृष्ण को सन्तोष प्रदान करती है और श्रीकृष्ण भी उसकी अभिलाषा करते हैं, तो मेरे प्रति विद्वेष भाव रखते हुए भी मैं उसे, श्रीकृष्ण के सुखसाधन की सामग्री समझकर, अपने मन में उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय मानूंगी। उस गोपी के घर जाकर यदि मैं उसकी दासी होकर सेवा कर सकूं, तो इससे मुझे अत्यन्त सुख और आनन्द लाभ होगा।' श्रीकृष्ण सुखैक तात्पर्यमय प्रेम इस प्रकार ही अपने आप को सम्पूर्णरूप से भुला देता है। श्रीकृष्ण किस प्रकार सुखी हो, इसी चिन्ता में तन्मय हो जाने का नाम ही प्रेम है। जो तन्मय हो जाते हैं उन्हें फिर अन्य किसी वस्तु की अनुभूति ही कहाँ रह जाती हैं? श्रीकृष्ण के अन्तर में आनन्द और रसास्वादन की जो तमाम सूक्ष्म-सूक्ष्म वासनायें उठती हैं—उसकी परिपूर्ति के उपादान से ही गोपीदेह का गठन हुआ है। श्रीराधारानी में यह

तृत्ति सबसे अधिक परिस्फुटित हुई है। इसीलिए उनके मोह-
नाख्य भाव के अनुभाव में देखा जाता है— "असह्यदुःखस्वी-
कारादपि तत्सुखकामता" "स्वभूतैरपि तत्संगतृष्णा मृत्युप्रति-
श्रवात्" इत्यादि। श्रीमती राधारानी असहनीय दुःख स्वीकार
करके भी श्रीकृष्ण के सुख की कामना करती है।

"स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे,
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात् कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्त्तिरुग्रा भवेन्नः,
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥"

( उ० नी० )

वृज से मथुरा आगमन के समय श्रीउद्धवमहाशय
श्रीराधारानी से पूछने लगे— 'हे राधे! तुम्हारे प्रियतम
श्रीकृष्ण को तुम्हारे किस संदेश का उपहार दूँ? श्रीराधा-
रानी बोलीं— हे उद्धव! श्रीकृष्ण के गोष्ठ में आने से यद्यपि
मुझे सुख होगा, फिर भी यदि उससे उन्हें किंचितमात्र भी
...न हो, तो चाहे वे कभी भी न आयें। यद्यपि उनके
...ंकर पीड़ा होती है, फिर भी यदि मथुरा वास
... चिरकाल तक वहीं वास करें फिर
... के द्वारा किंचितमात्र भी
...बना रहती हो, तो श्रीमती
...ण को सुखी करने की इच्छा

...चरणे चलि यात।
...हइये मझु गात॥
...निति निति नाह।
...होइ तथि माह॥



ए सखि विरह मरण निरदन्द।
ऐछे मिलइ यव गोकुलचन्द॥
जो दरपणे पहुँ निज मुख चाह।
मझु अंग ज्योति होइ तथि माह॥
यो बीजने पहुँ बीजइ गात।
मझु अंग ताँहि होइ मृदुवात॥
याँहा पहुँ भरमइ जलधर श्याम।
मझु अंग गगन होइ तछु ठाम॥
गोविन्ददास कह काँचन - गोरि।
सो रसमय तनु तोहे किये छोड़ि॥"

( पदकल्पतरु )

यद्यपि इस विश्व में गोपीगणों की श्रीकृष्ण सेवा की
तुलना खोजने पर भी नहीं पाई जा सकती, फिर भी राधा-
रानी ने एक कुष्ठ व्याधिग्रस्त विप्ररमणी का दृष्टान्त दिया।

कुष्ठ व्याधिग्रस्त एक विप्र की एक परम पतिव्रता पत्नी
थी। निष्ठा के साथ पति सेवा ही उसके जीवन का व्रत था।
दैवयोग से एक रूपवती वैश्या में उस विप्र की आसक्ति
जागी। उसने पत्नी के पास अपने मन की बात स्पष्ट होकर
कही और वैश्या का संग कराने के निमित्त प्रबल इच्छा प्रकट
की। पति की अभिलाषा पूरी करने के लिए पतिव्रता ने वैश्या
की अनेकों प्रकार से सेवा करके उसको संतुष्ट किया और अपने
पति की अभिलाषा वैश्या को बताई। किन्तु पतिव्रता के पति
को कुष्ठरोग से पीड़ित जानकर वैश्या ने उसके संग मिलने की
इच्छा ही नहीं की। फिर भी रात्रिकाल में यदि पतिव्रता
अपने पति को वैश्या के घर ले आये, तो पतिव्रता के गुणों पर

मुग्धा वैश्या नें उसे केवल दर्शन देना स्वीकार किया। विप्र वैश्या के प्रति इतना आसक्त था कि उसे नयनभर कर देख लेने पर भी वह अपने को धन्य मान रहा था। इसलिए पतिव्रता चलने में अशक्त अपने पति को कन्धे पर लेकर रात्रिकाल में वैश्या के घर को चल पड़ी। रास्ते में मार्कण्डेय मुनि त्रिशूल के ऊपर बैठे तपस्या में मग्न थे। दैवयोग से विप्र के स्पर्श से मुनि का ध्यान भंग हो गया। उसी क्षण मुनि ने क्रोधावेश में अभिशाप दिया कि जिसके स्पर्श से उनकी समाधि भंग हुई है, सूर्योदय होने के साथ-साथ उसकी मृत्यु हो जायेगी।

पतिव्रता सूर्योदय के साथ-साथ पति की मृत्यु रूप मुनि के अभिशाप से स्तम्भित हो गई। विशेषत: उसका पति अपूर्ण आकांक्षा लिए मर जायेगा—यह कभी नहीं होने दूँगी। लेकिन मुनि का अभिशाप भी मिथ्या नहीं हो सकता। तब पतिव्रता ने भी प्रतिज्ञा की—यदि वह पतिव्रता है, तो सूर्योदय होगा ही नहीं। पतिव्रता के पातिव्रत्य के प्रभाव से सूर्य की गति रुक गई। सूर्य की गति के स्तम्भित होने से विश्व के विनाश का उपक्रम जानकर ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेव तीनों देवताओं ने पतिव्रता को समझाया कि सूर्य की गति रुकने से विश्व के विनाश की सम्भावना है। अत: वे सूर्योदय होने दें, एक बार उनके पति की मृत्यु होगी, मुनि-वाणी सत्य होगी, उसके बाद वे देवता उसके पति को जीवित कर देंगे। पतिव्रता उनकी बात से सहमत हो गई, सूर्योदय हुआ। विप्र की मृत्यु हो गई। उसके बाद उन तीनों देवताओं की कृपा से विप्र में प्राणों का संचार हुआ और उनकी अमृत दृष्टि के प्रभाव से उसके शरीर का कुष्ठ और मन का दुष्टता दोनों ही समाप्त हो गये। माया के संसार में यदि इस प्रकार की निष्काम प्रिय



सेवा सम्भव है, तब उस चिन्मय प्रेमराज्य की बात ही क्या है। उसके बाद श्रीमती राधारानी फिर बोलीं—

"कृष्ण मोर जीवन कृष्ण मोर प्राणधन
कृष्ण मोर प्राणेर पराण।
हृदय उपरे धरों सेवा करि सुखी करों
इए मोर सदा रहे ध्यान॥"

सखि! कृष्ण मेरे जीवन हैं, वे मेरे प्राणधन हैं, यहाँ तक कि वे मेरे कोटि प्राणों के भी प्राण हैं। प्राण सुखी होने से ही जिस प्रकार देह-इन्द्रियाँ आदि अनायास रूप से सुखी हो जाती है; उसी प्रकार श्रीकृष्ण के सुखो होने से ही मैं सुखी होती हूँ। इसे छोड़कर मेरे पृथक्‌रूप से सुख की और कोई सत्ता नहीं है। प्राण तो हृदय के अन्दर रहता है, उसको तो और हृदय के अन्दर रखना सम्भव नहीं हैं; इसलिए अन्तत: उसको हृदय के ऊपर धारण करूँगी और निरन्तर सेवा करके सुखी करूँगी- यह मेरी सर्वदा की चिन्ता है; यही एकमात्र अभीष्ट और चिरकामना है। श्रीराधारानी की उक्ति से महाजन भी कहते हैं—

"बंधु तोमार गरवे गरबिनी हाम
रूपसी तोमार रूपे।
हेन मने लय ओ दुटि चरण
सदा निये राखि बुके॥
आनेर आछे अनेक जना
आमारि केवल तुमि।
आमार, पराण हइते शत शत गुणे
प्रियतम करि मानि॥

बंधु, शिशुकाल हइते मायेर सोहागे
सोहागिनी बड़ आमि।
सखीगण माने जीवन-अधिक
पराण-बंधुया तुमि ॥
आमार, नयनेर अंजन अंगेर भूषण
तुमि से कालिया-चाँदा।
ज्ञानदास कहे कालिया पिरिति
आमार, अन्तरे अन्तरे बाँधा ॥"
(पदकल्पतरु)

प्रश्न हो सकता है—श्रीराधारानी की यदि दासी के समान कृष्ण सेवा को छोड़कर अन्य कुछ भी ध्यान की वस्तु नहीं हैं, और अपने सुख का कुछ भी अनुसन्धान नहीं है, वे दासी भाव से श्रीकृष्ण भी कर लेती है, फिर कान्ताभाव से कृष्ण से मिलन कैसे होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—

"मोर सुख सेवने कृष्णेर सुख संगमे
अतएव देह देऊँ दान।
कृष्ण मोरे 'कान्ता' करि कहे 'तुमि प्राणेश्वरी'
मोर हय दासी अभिमान ॥"

हे सखि ! श्रीकृष्ण सेवा में ही मेरा सुख है, सेवा का उद्देश्य है सेव्य का सुखविधान, इसलिए श्रीकृष्ण का सुख विधान ही मेरा एकमात्र उद्देश्य है। वे मेरी इस देह को भोग कर आनन्द पाते हैं, तभी तो मैंने यह देह उन्हें दान कर दी है। वे मुझे अपने मन में कान्ता मानते हैं और मुझे हमेशा 'प्राणेश्वरी' कहते हैं। लेकिन मेरा उनकी प्राणेश्वरी रूप में कोई अभिमान नहीं है। 'मैं कृष्णदासी' यही मेरा चिर-अभिमान



है। कृष्णप्रेम का यह एक स्वरूप सिद्ध धर्म है कि यह प्रेम सभी को दास्य अभिमान प्रदान करता है। "कृष्णप्रेमेर एइ एक अपूर्व प्रभाव। गुरु सम लघु के कराय दास्यभाव ॥" (चै०च०)। और फिर कृष्णदास के अभिमान में जो आनन्द है, कोटि ब्रह्मसुख भी उसकी तुलना में तुच्छ है। "कृष्णदास अभिमाने ये आनन्दसिन्धु। कोटि ब्रह्मसुख नहे तार एक विन्दु ॥" (चै०च०)। इसीलिए दूसरों की बात तो दूर, आज स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन ही श्रीराधा की भावकान्ति लेकर दास भाव से अपने ही माधुर्य आस्वादन में मग्न है। श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही श्रीराधारानी उनके संग मिलन-विरह आदि करती हैं, वास्तव में संगमसुख की अपेक्षा सेवा-सुख के प्रति ही उनका विशेष उद्देश्य है। तभी तो कहते हैं—

"कान्तसेवा सुखपूर संगम हैते सुमधुर
ताते साक्षी लक्ष्मी-ठाकुराणी।
नारायणेर हृदे स्थिति तभू पाद सेवाय मति
सेवा करे दासी-अभिमानी ॥"

सखि ! कान्त की सेवा ही सर्वश्रेष्ठ सुख है, यह संभोगानन्द की अपेक्षा भी अधिक आस्वाद्य और मधुर है। इसका साक्षात् उदाहरण वैकुण्ठेश्वरी रमादेवी। वे श्री नारायण की वक्षविलासी होकर भी दासी अभिमान से सदैव श्रीनारायण की पाद सम्वाहन आदि सेवा ही करती रहती हैं। वास्तव में वैकुण्ठेश्वरी कमलादेवी की अपेक्षा व्रजकान्तागणों का श्रीकृष्ण सेवानन्द बहुत उच्चस्तरीय और परम रसमधुर है। किन्तु लौकिक लीला या नरलीला में श्रीराधारानी और गोपियाँ अपने आप को सामान्य मनुष्य के अभिमान में ही रखती है,

इसी से नरलीला की सुचारुता सम्पन्न होती है। इसीलिए राधारानी कान्तसेवा में यहाँ पर रमणीगणों के आदर्श स्थापन के लिए रमादेवी का दृष्टान्त दे रही हैं। वस्तुतः रमादेवी श्रीकृष्ण-सेवा की लालसा से प्रलुब्ध होकर श्रीनारायण की चरण-सेवा को छोड़कर वृन्दावन में रहकर तपस्या करके भी श्रीकृष्ण की चरण सेवा का लाभ न उठा सकीं। उसके बाद श्रील कविराज गोस्वामिपाद ने कहा—

"एइ राधार वचन    विशुद्ध प्रेम लक्षण,
आस्वादये  श्रीगौर-राय ।
भावे मन अस्थिर    सात्त्विके व्यापे शरीर,
मन देह धरण  ना  जाय ॥
ब्रजेर विशुद्ध प्रेम    येन जाम्बुनद हेम,
आत्मसुखेर याँहा नाहि गन्ध ।
से प्रेम जानाइते लोके,    प्रभु कैल एइ श्लोके,
पदे कैल अर्थेर निबन्ध ॥"

"आश्लिष्य वा पादरतां" श्लोक की आस्वादनी **"आमि कृष्णपददासी"** से लेकर **'सेवा करे दासी अभिमानी"** पर्यन्त श्रीराधारानी की ही उक्ति है। इस वाणी में आत्मेन्द्रिय-सुखवासना हीन श्रीकृष्ण-सुखैक-भावनामय विशुद्ध या निरुपाधि प्रेम के लक्षण प्रकाशित हुए है। श्रीराधारानी के भाव से श्रीगौराङ्गदेव ने उसी का आस्वादन किया। इस विशुद्ध राधाप्रेममाधुरी के आस्वादन के लिए ही गौर-अवतार हुआ। वृजलीला में जो विषयतत्त्वरूप से सुनिर्मल राधाप्रेम की माधुरी देख कर स्तम्भित व अवाक रह गये थे और आश्रय-तत्त्व रूप से श्रीराधा के भाव और प्रेममाधुरी के आस्वादन



के लिए लालायित होकर पड़े थे, आज गौरलीला में वही आस्वादन की विषयवस्तु हो गई है। जिस प्रकार किसी बोझ के देखकर उसके भारीपर अनुमान लगाना तब तक कठिन है जब तक उसे कन्धे या सिर पर न लिया जाये, उसी प्रकार कृष्णलीला में जिस भाव के मात्र दर्शक थे आज उसी भाव के गुरुत्व को समझ रहे हैं, तभी तो भाव में मन सदा ओत-प्रोत रहता है, अश्रु, कम्प, पुलक, वैवर्ण्य आदि सुदीप्त अष्ट-सात्त्विक विकारों से श्रीअंग निरन्तर व्याप्त रहता है। भाव के प्रहारों से देह मन जर्जरित—जैसे अब देह-मन को और धारण किया जाना असम्भव सा लग रहा है। इस राधाभाव के आकर्षण से ही वे कूर्माकृति हो गये थे और इस भाव के अपकर्षण से ही उनकी अस्थि-सन्धि-वियोग हुआ था।

जाम्बुनद से उत्पन्न स्वर्ण में किसी प्रकार का कोई पदार्थ मिश्रित नहीं होता है। वह जैसा एकदम शुद्ध होता है वैसा ही मूल्यवान् भी होता है। प्रेम के राज्य में आत्मसुख वासना ही प्रेम का अवांछनीय मिश्रित-पदार्थ है, वृज का प्रेम जाम्बुनद स्वर्ण के समान विशुद्ध अर्थात् आत्मसुख वासना गन्ध रहित अत्यन्त सुनिर्मल है। विशेष कर गोपी प्रेम सर्वोपरि निर्मल और राधाप्रेम इस निर्मलता की पराकाष्ठा है। इस विशुद्ध प्रेम को विश्वमानव को बतलाने के लिए प्रभु ने शिक्षाष्टक के इस श्लोक का पाठ किया और स्वयं श्लोक का अर्थ पद के रूप में निबन्ध करके आस्वादन किया। **'से प्रेम-जानाइते लोके'** इस वाक्य से श्रील कविराज इस अन्तिम शिक्षा-श्लोक से जगद्वासियों को **'ब्रज प्रेम'** के बारे में शिक्षा देना चाहते हैं। इस वृजप्रेम की साधना ही श्रीमन्महाप्रभु का अनर्पितचरी करुणा का अवदान है। उन्होंने स्वयं और अपने

चरणाश्रित रूप-सनातन आदि गोस्वामिवर्ग के द्वारा वृजजनों की रागात्मिका भक्ति विश्व वासी व्यक्तियों को बतलाकर उनके आनुगत्यमय रागानुगा भजन में उन्हें प्रवर्तित किया। शुद्धभक्ति दो प्रकार की होती है—

**वैधी और रागानुगा।**

"यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरूपजायते ।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ॥"

( भ० र० सि० : १।२६ )

"साधारणतः भगवद्भजन में प्रवृत्ति के विषय में कहीं पर लोभ और कहीं पर शास्त्रशासन ही प्रवर्त्तक है। जिस भक्ति की लोभ प्रवर्त्तक न होकर, शास्त्रशासन ही प्रवर्त्तक हो, उसकी वैधीभक्ति कहा जाता है।" भगवद्-भजन न करके,नरक आदि भोग और नाना योनियों में भ्रमण करना, संसार यंत्रणा प्राप्ति अवश्यम्भावी—इत्यादि शास्त्रवाणी ही जहाँ भजन की प्रवर्त्तक है—उसी का नाम वैधीभक्ति है।

"विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु ।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥"

( भ० र० सि० : १।२६० )

"वृजवासी नित्यपार्षदगणों में प्रकाश्यभाव से विराजित भक्ति का नाम रागात्मिका भक्ति है, इस रागात्मिक की अनुगता भक्ति को ही **रागानुगाभक्ति** कहते हैं।" रागात्मिका



भक्ति दो प्रकार की है। (१)सम्बन्धात्मिका (२)कामात्मिका। वृज के रक्षक, पत्रक दासगणों, श्रीदाम, सुवल आदि सखागणों और नन्द यशोदादि माता-पिता गणों में सम्बन्धात्मिका और श्रीराधा आदि वृजसुन्दरीगणों में कामात्मिका भक्ति नित्य ही विराजती है। भक्ति की श्रेष्ठता के विचार से सम्बन्धात्मिका की अपेक्षा मधुर रसमयी कामात्मिका भक्ति का परम उत्कर्ष है। यह कामात्मिका भक्ति फिर दो प्रकार की होती है—सम्भोगेच्छामयी और तद्भावेच्छात्मिका। सम्भोगेच्छामयी में नायिकाभाव और तद्भावेच्छात्मिका में सखीभाव की प्रधानता है। रागात्मिका के अनुसार ही रागानुगा भक्ति भी सम्बन्धानुगा और कामानुगा भेद से दो प्रकार की है। वृज के दास, सखा और माता-पिता की आनुगत्यमयी भक्ति को 'सम्बन्धानुगा' और वृजगोपीगणों की आनुगत्यमयी भक्ति को 'कामानुगा' कहा जाता है। इस कामानुगा के तद्भावेच्छात्मिका सखीभाव के बीच में श्रीराधारानी की नित्य किंकरी श्रीरूपमञ्जरी, श्रीरतिमञ्जरी की आनुगत्यमयी--**मंजरीभाव-साधना** ही श्रीमन्महाप्रभु का महादान है। यही श्रीरूप-सनातनादि गोस्वामिगणों की आचरित और प्रचारित वृज रस की साधना है। **इस मंजरीभाव में ही रागानुगा-भजन का चरमोत्कर्ष विराजित है।** श्रीमन्महाप्रभु के पदाश्रित गौड़ीय-वैष्णवगणों का साध्यतत्त्व यही मञ्जरीभाव है।

"वाह्य अन्तर इहार दुइ त साधन ।
वाह्य-साधक देहे करे श्रवण-कीर्तन ॥
मने निज सिद्धदेह करिया भावन ।
रात्रि-दिने चिन्ते ब्रजे कृष्णेर सेवन ॥"

( चै० च० )

इस रागानुगामार्ग के साधक बाह्य या साधक देह से वृजवास करते हुए ( यथावस्थित देह से वृजवास में असमर्थ होने से मन-मन से वृजवास करते हुए ) श्रीरूपसनातनादि गोस्वःमिपादगणों के आनुगत्य में उन्हीं के आदर्श को उद्देश्य बनाकर श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दनादि भजन करें। अपने सिद्ध देह से अर्थात् श्रीगुरु-प्रदत्त अपनी सिद्ध देह या मञ्जरी स्वरूप की भावना करते हुए श्रीरूपमंजरी आदि के आनुगत्य में मन से श्रीराधामाधव की अष्टकालीन लीलाओं का चिन्तन और उनकी कालोचित सेवा की भावना करें। निरन्तर उनके मन और प्राण में यह लालसा जागरित होगी—

"राधाकृष्ण प्राण मोर युगल किशोर ।
जीवने मरणे गति आर नाहि मोर ॥
कालिन्दीर कूले केलि-कदम्बेर वन ।
रतन- वेदिरोपरे वसाव दुजन ॥
श्यामगौरी-अंगे दिव चुयाचन्दनेर गन्ध ।
चामर ढुलाव कवे हेरि मुखचन्द ॥
गाँथिया मालतीर माला दिव दोहार गले ।
अधरे तुलिया दिव कर्पूर ताम्बूले ॥
ललिता विशाखा आदि यत सखी वृन्द ।
आज्ञाय करिव सेवा चरणारविन्द ॥
श्रीकृष्ण चैतन्य-प्रभुर दासेर अनुदास ।
नरोत्तमदास करे सेवा-अभिलाष ॥"

( प्रार्थना )

यह अभिलाष श्रीगौड़ीय-वैष्णवों के जीवन में भरी हुई है। यह अभिलाष हृदय में धारण करके वे अनुरागमय भजन



जीवन-यापन करते हुए इस जड़ देह के अवसान के बाद अपने सिद्धस्वरूप में लीलाराज्य में श्रीश्रीगौरचन्द्र और श्रीश्रीराधा-माधव की साक्षात् सेवा लाभ करते हुये धन्य और कृतार्थ हो जायेंगे। जय श्रीगौर हरि। जय श्रीराधे। ●●

संसारसिन्धुतरणे हृदयं यदि स्यात्,
संकीर्त्तनामृतरसे रमते मनश्चेत् ।
प्रेमाम्बुधौ विहरणे यदि चित्तवृत्ति,
चैतन्यचन्द्र-चरणे शरणं प्रयातु ।।

तृणादपि सुनीचता सहजसौम्यमुग्धाकृतिः
सुधामधुरभाषिता विषयगन्ध थूथूत्कृतिः ।
हरिप्रणयविह्वला किमपि धीरनारम्भिता
भवन्ति किल सद्‌गुणा जगति गौरभाजानमी ।।

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपुराकाशपुष्पायते,
दुर्दान्तेन्द्रिय-कालसर्पपटली प्रोत्खात दंष्ट्रायते ।
विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते,
यत् कारुण्यकटाक्ष वैभववतां तं गौरमेव स्तुमः।।
( श्रीचैतन्यय चन्द्रामृतम् )

अभिनव कर डालने के लिए ही मान का उद्भव होता है। नियत आस्वाद्य वस्तु को अभिनव माधुर्य से सुमधुर और प्रलोभनीय करने में मान अद्वितीय है। इसलिए प्रेम के राज्य में मान एक संजीवनी सुधा—एक अद्भुत इन्द्रजाल है। इसलिए इसके उदय से नायिका का सौन्दर्य-माधुर्य रूप-रसादि नायक के मन में क्षण-क्षण में नव नवायमान अनुभूत होता है। मकरन्द-लोलुप-मधुप के समान नायक मानिनी के मुखकमल-मधुपान के लिए व्याकुल हो पड़ते हैं। हृदय के गहनतर अन्धकार को नष्ट करने के लिए नायिका की "दन्तरुचिकौमुदी" की प्रार्थना से व्याकुल होते हैं। अन्त में 'देहि पदपल्लवमुदारम्' कहकर मानिनी के चरणों में अपने मस्तक को रखकर धन्य हो जाता है। नायिका के रोष भरे वचनामृत नायक को वेदस्तुति से भी अधिक आनन्द प्रदान करते रहते हैं।

"प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन।
वेदस्तुति हैते हरे सेइ मोर मन॥" (चै०च०)

श्रीराधारानी कहती हैं—'सखि! मानिनी कान्ता का रोष श्रीकृष्ण को अपार आनन्द प्रदान करता है। मानिनी की ताड़ना-भर्त्सना से उन्हें अपार सन्तोष मिलता है। तभी उनको मान रस के सुख का आस्वादन कराकर थोड़े प्रयत्न से ही मानिनी का मान भंग हो जाता है। और श्रीकृष्ण की मर्म-व्यथा को जानते हुए भी जो रमणी श्रीकृष्ण के प्रति गाढ़ रोष बनाये रखती है, अपने सुख के लिए ही जिसका एकमात्र उद्देश्य हो, उसके सिर पर वाज पड़े, अर्थात् उसे सैकड़ों-सैकड़ों बार धिक्कार है। कृष्णकान्तागणों का एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्ण के सुख का विधान करना ही है और यही उनके लिए



उचित है।' श्रीराधारानी श्रीकृष्ण का सुख ही चाहती हैं उनकी और कोई भी कामना नहीं है—यही फिर बिशेष भाव से कह रहो हैं—

"जे गोपी मोर करे द्वेष कृष्णेर करे सन्तोषे,
कृष्ण जारे करे अभिलाष।
मुञि तार घरे याञा, तारे सेवों दासी हञा,
तवे मोर सुखेर उल्लास॥
कुष्ठीविप्रेर रमणी, पतिव्रता-शिरोमणि,
पति-लागि करिल वेश्यार सेवा।
स्तम्भिल सूर्येर गति, जियाइले मृतपति
तुष्ट कैले मुख्य तिन देवा॥"

'सखि! कोई गोपी यदि मेरे प्रति विद्वेष रखती है किन्तु श्रीकृष्ण को सन्तोष प्रदान करती है और श्रीकृष्ण भी उसकी अभिलाषा करते हैं, तो मेरे प्रति विद्वेष भाव रखते हुए भी मैं उसे, श्रीकृष्ण के सुखसाधन की सामग्री समझकर, अपने मन में उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय मानूंगी। उस गोपी के घर जाकर यदि मैं उसकी दासी होकर सेवा कर सकूं, तो इससे मुझे अत्यन्त सुख और आनन्द लाभ होगा।' श्रीकृष्ण सुखैक तात्पर्यमय प्रेम इस प्रकार ही अपने आप को सम्पूर्णरूप से भुला देता है। श्रीकृष्ण किस प्रकार सुखी हो, इसी चिन्ता में तन्मय हो जाने का नाम ही प्रेम है। जो तन्मय हो जाते हैं उन्हें फिर अन्य किसी वस्तु की अनुभूति ही कहाँ रह जाती हैं? श्रीकृष्ण के अन्तर में आनन्द और रसास्वादन की जो तमाम सूक्ष्म-सूक्ष्म वासनायें उठती हैं—उसकी परिपूर्ति के उपादान से ही गोपीदेह का गठन हुआ है। श्रीराधारानी में यह